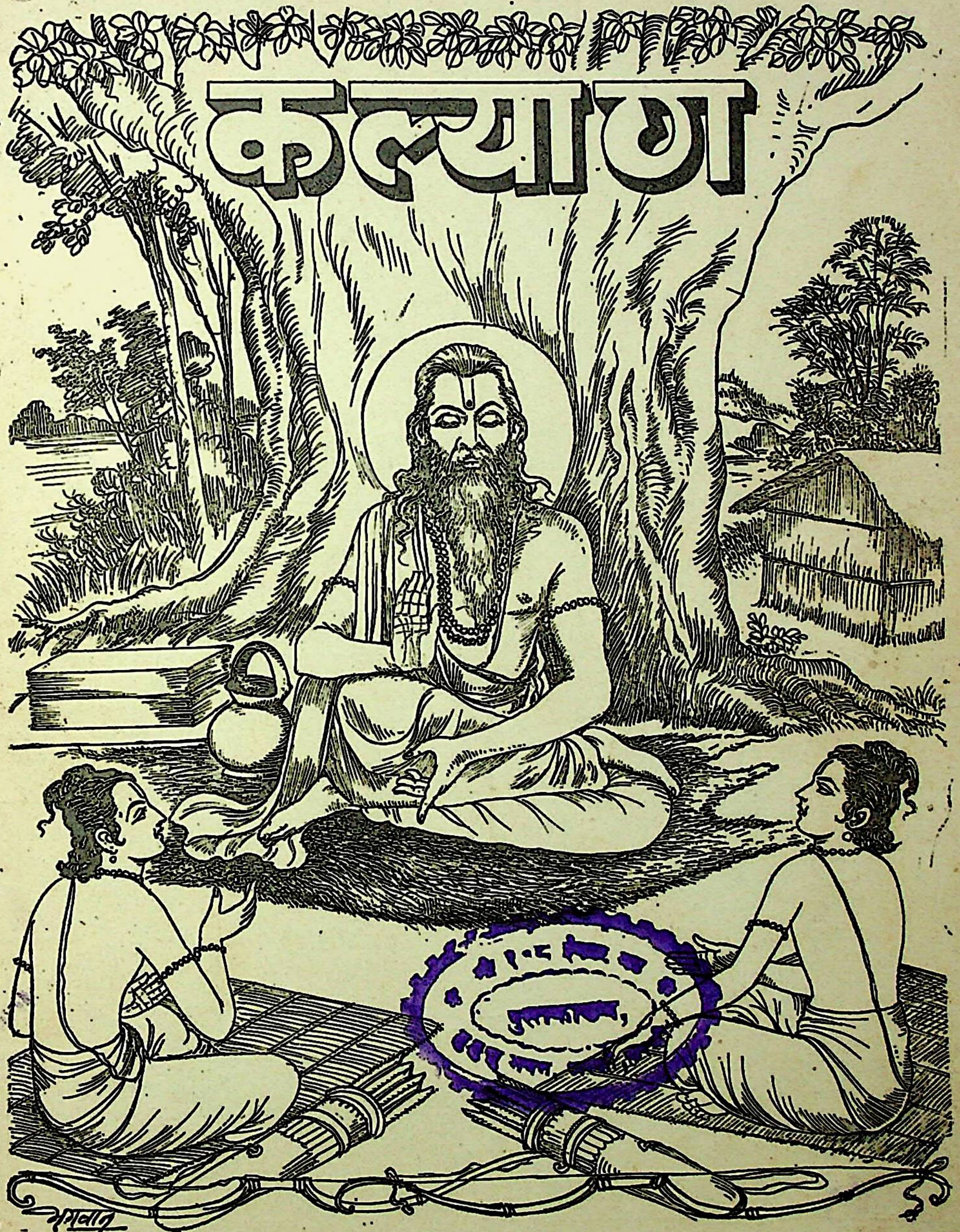


वर्ष ४६] * * * [अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६६,५००

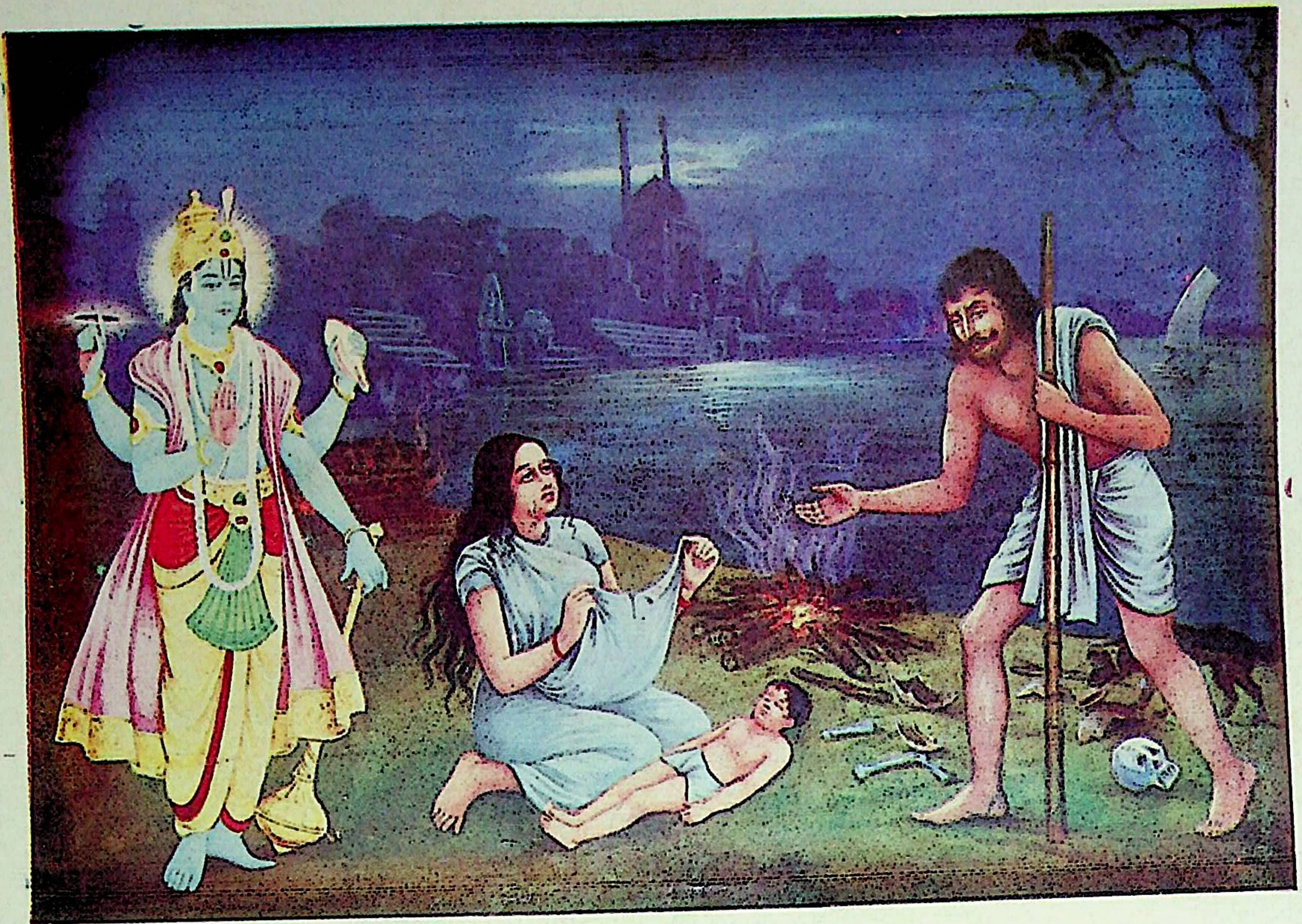
विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, जुलाई १९७२

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



महाराज हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठासे भगवान्की प्रसन्नता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर श्रावण, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, जुलाई १९७२ { संख्या ७ पूर्ण संख्या ५४८

सत्यद्वारा प्राप्य भगवान्‌की वन्दना

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

(श्रीमद्भा० १० । २ । २६)

प्रभो ! आप सत्यसंकल्प हैं । सत्य ही आपकी प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है । सृष्टिके पूर्व, प्रलयके पश्चात् और संसारकी स्थितिके समय—इन असत्य अवस्थाओंमें भी आप सत्य हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच दृश्यमान सत्योंके आप ही कारण हैं और उनमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान भी हैं । आप इस दृश्यमान जगत्‌के परमार्थस्वरूप हैं । आप ही मधुर वाणी और समदर्शनके प्रवर्तक हैं । भगवन् ! आप तो बस, सत्यस्वरूप ही हैं । हम सब आपकी शरणमें आये हैं ।

कल्याण

हमें मानव-जीवन प्राप्त हुआ, यह भगवान्‌की बड़ी कृपा हुई। इस कृपाका हम लाभ उठा लें, यह हमपर निर्भर करता है। इसके लिये सरल उपाय है—जो जीवन बीत गया, वह तो बीत ही गया; जितना जीवन बचा है, वह केवल और केवल भगवान्‌को सौंप दें। घरके तथा अपने कार्य करें, पर सब भगवान्‌के लिये। आजीविकाके लिये नौकरी करें, व्यवसाय करें; पर यह हो भगवान्‌के लिये ही। रोटी खायें भगवान्‌के लिये, कपड़े पहनें भगवान्‌के लिये, स्नान करें भगवान्‌के लिये, सोयें भगवान्‌के लिये। इस प्रकार हमारे प्रत्येक कार्यका सम्बन्ध केवल और केवल भगवान्‌से जुड़ जाय।

'सब मानिअहिं राम के नातें'—रामके नाते—भगवान्‌के सम्बन्धसे सबका सम्बन्ध हो। भगवान्‌के सम्बन्धसे रहित किसीसे हमारा सम्बन्ध नहीं। घर भगवान्‌का, घरके सब सदस्य भगवान्‌के, घरकी सब चीजें भगवान्‌की और इसी नाते घरसे, घरके सदस्योंसे एवं घरकी चीजोंसे हमारा सम्बन्ध है। घर, घरके सदस्य तथा घरकी चीजें यदि भगवान्‌की न हों तो उनसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

'भगवान्‌के नाते सम्बन्ध'का अर्थ है—सब भगवान्‌का और हम सबके सेवक। अर्थात् केवल सेवाके लिये हमारा उनसे सम्बन्ध है। अतएव किसीके साथ ममताका बन्धन न बाँधें। जबतक भगवान् वर्तमान सम्बन्धोंके बीचमें हमें रखना चाहें, तबतक प्रसन्नतासे रहें और भगवान्‌के नाते सबकी सेवा करें। जब भगवान् वर्तमान सम्बन्धोंसे पृथक् करके हमें अन्यत्र भेजना चाहें, तब प्रसन्नतासे पृथक् हो जायँ। उस अवस्थामें—मृत्युमें भी हमें प्रसन्नता होगी। किसी अफसरकी एक स्थानसे दूसरे स्थानपर बदली होती है तो क्या वह उस स्थानको छोड़कर जानेमें दुःख अनुभव करता है, रोता है? एक बैंकके मैनेजरका, जिसके हाथमें लाखों-करोड़ोंकी सम्पत्ति है, जिसके हस्ताक्षरसे लाखों-करोड़ों रुपये आते-जाते हैं, उस बैंकसे तबादला (ट्रान्सफर) हो गया तो क्या वह उस सम्पत्तिको छोड़कर जाते समय रोता है? वह तो कहता है—'हम तो बैंककी सम्पत्तिकी सँभाल करनेवाले (कस्टोडियन) हैं। हमें तो बैंककी नौकरी करनी है; चाहे यहाँ करें, चाहे वहाँ करें। सम्पत्ति न यहाँ हमारी थी, न वहाँ हमारी है। सेवा करना हमारा यहाँ कर्तव्य था और सेवा करना वहाँ भी हमारा कर्तव्य है।' इसी प्रकार जब हम घर तथा घरकी वस्तुओंको बैंककी सम्पत्तिकी तरह मान लेंगे, तब उन्हें छोड़कर जानेमें हमें कष्ट न होगा, हम रोयेंगे नहीं।

भगवान्‌के नाते सबकी सेवा करनी है; पर उस सेवामें ईमानदारी रहे, सावधानी रहे; कमी हो नहीं, गफलत हो नहीं, बेईमानी हो नहीं। जिनकी सेवा हम करते हैं, उनको अपना न मानें। जहाँ उन्हें अपना माना, वहीं उनके प्रति इच्छा, लालसा, वासना, कामना, स्पृहा, अपेक्षा आदि-आदि वृत्तियाँ उत्पन्न हो जायँगी और हमारी सेवामें त्रुटि आ जायगी। अतएव निरन्तर सावधान रहें।

—'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

हमलोगोंको अपने जीवनका एक क्षण भी वृथा कामोंमें नहीं बिताना चाहिये; क्योंकि समय हाथमें बहुत कम है। अब नहीं चेतेंगे तो फिर कब चेतेंगे। श्रीनारायणदेवके चिन्तनके बिना जो एक क्षण भी बीतता है, वह व्यर्थ ही जाता है। संसार तथा संसारकी वस्तुओंका चिन्तन करना तो अपने गलेमें आप ही फाँसी लगाकर मर जानेके सदृश है; क्योंकि भगवान्‌ने गीतामें लिखा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(८।६)

'अन्तकालमें जिस-जिस भावका चिन्तन करता हुआ मनुष्य जाता है, उसी-उसीको पाता है और नित्य जिसका चिन्तन करता है, उसीका अन्तमें चिन्तन होता है।' अतएव निरन्तर परमात्मदेवका ही चिन्तन करनेका अभ्यास करना चाहिये। एक क्षण भी दूसरी वस्तुके चिन्तनमें व्यतीत नहीं करना चाहिये। न जानें किस क्षण प्राण चले जायँ। फिर क्या उपाय करेंगे। अतएव पहलेसे ही सावधान रहना चाहिये। ऐसा नियम बना लेना चाहिये कि भगवान्‌के विषयकी ही बात सुननी, पढ़नी, आचरण करनी है तथा भगवान्‌का ही चिन्तन करना है। जहाँ-जहाँ नेत्र जायँ, वहाँ-वहाँ श्रीनारायणका स्वरूप ही देखनेका अभ्यास करना चाहिये। मन, इन्द्रिय और शरीरसे भगवान्‌के ही सम्पर्कका अभ्यास करना चाहिये; फिर कुछ भी चिन्ता नहीं है।

जिसमें जो गुण होते हैं, उसका चिन्तन करनेसे उसके गुण अपने अंदर आ जाते हैं। भगवान् एवं भक्तका चिन्तन करनेसे उनके गुण स्वाभाविकरूपसे चिन्तन करनेवालेमें आ जाते हैं। अतएव भगवान् एवं भक्तका चिन्तन करना चाहिये।

भगवान् और उनके भक्तमें एकता है। भगवान्‌की सेवा करना भक्तोंकी सेवा है और भक्तोंकी सेवा करना भगवान्‌की ही सेवा है। इसलिये भक्तोंकी सेवा करनी चाहिये। भक्तोंकी उत्तमोत्तम सेवा है—उनकी आज्ञाका पालन करना।

× × ×

समयकी अमूल्यताके रहस्यको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह अपना सारा समय भगवान्‌के प्रभाव और रहस्यको समझते हुए श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर केवल ईश्वरके चिन्तनमें ही लगाये।

संसारमें चौरासी लाख जातिके अनन्त जीव शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। इन सबमें परमात्माकी प्राप्तिका अधिकार केवल मनुष्यका ही माना गया है।

बुद्धिमान् पुरुषोंको यह समझ रखना चाहिये कि अनन्त युगोंसे भटकते हुए अनन्तकोटि जीवोंमें जो अत्यन्त ही भाग्यशाली और मुक्तिके अधिकारी समझे जानेयोग्य जीव होते हैं, उन्हींको ईश्वर यह दुर्लभ मुक्तिदायक मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं। ऐसे दुर्लभ, पर साथ ही क्षणभङ्गुर, अनित्य मनुष्य-शरीरको पाकर जो जीव शीघ्र-से-शीघ्र अपने आत्माके कल्याणके लिये तत्पर नहीं होता, उसके समान मूर्ख और कोई भी नहीं है। जब मनुष्यका शरीर मिल गया, तब समझ लेना चाहिये कि सामान्यभावसे मुक्तिके अधिकारी तो हम हैं ही। ऐसी बात न होती तो मनुष्य-शरीर ही हमें क्यों दिया जाता। दयामयकी अपार दया है, जिसने हमें मुक्तिका अधिकारी बनाया। इस अधिकारको पाकर भी यदि हम उस दयामयकी दयाकी अवहेलना कर अपने समयको व्यर्थ भोग, प्रमाद, पाप और आलस्यमें बितायें तो इसे मूढ़ताके अतिरिक्त और क्या कहा जायगा।

मनुष्यको अपनी आयुका एक-एक क्षण बड़ी सावधानीके साथ उसी प्रकार परम आवश्यक साधनमें लगाना चाहिये, जिस प्रकार कोई अत्यन्त गरीब और आजीविकासे रहित कंजूस मनुष्य अपने थोड़ेसे परिमित पैसोंको अत्यावश्यक कार्यमें ही व्यय करता है। समयकी अमूल्यताके रहस्यको जाननेवाले पुरुष कदापि समयका व्यर्थ व्यय नहीं कर सकते। अतएव हमलोगोंको चाहिये कि मृत्युके समीप पहुँचने और वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेके पहले-पहले ही तत्परतासे प्रयत्न करके अपने ध्येयकी सिद्धि कर लें। नहीं तो पीछे बड़ा भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

× × × ×

सभी भक्तोंकी निष्ठा, विश्वास, स्थिति और साधन-प्रणाली एक-सी नहीं होती। इसलिये सबके व्यवहारमें भी एकता नहीं हो सकती। अतः यह कहना कि प्रह्लादकी भाँति ही दूसरे भक्तोंपर भी प्रकृतिका प्रभाव नहीं होना चाहिये, युक्तिसंगत नहीं है।

× × × ×

आपको अपनी कमी तो दीखती नहीं, भगवान्‌में दिखायी देती है। यह त्रुटि है। भगवान्‌में कमी है नहीं। भगवद्दर्शनकी छटपटाहट हो और भगवद्दर्शन न हो, यह सम्भव नहीं। आप भगवान्‌के साथ-साथ मान-बड़ाई आदिके रूपमें संसारको भी चाहते होंगे। भगवान् इसे पसंद नहीं करते। जब कभी आपको अपनी कमी दिखलायी देगी, तभी दर्शन हो सकते हैं, दूसरा उपाय ही क्या हो सकता है ?

× × × ×

समस्त जगत्‌को 'निज-प्रभुमय' वही देख सकता है, जो भगवान्‌के तत्त्व और रहस्यको जान लेता है। काम-क्रोध आदि विकारोंका नाश होनेपर ही यह समदर्शनरूप भोग समझमें आ सकता है। सत्पुरुषोंके साथ पत्र-व्यवहारसे या पुस्तक पढ़नेमात्रसे इसका समझमें आना कठिन है।

× × × ×

संसारमें दूसरे लोग क्या बुराइयाँ कर रहे हैं, यह देखना साधन नहीं है। साधकको परदोषदर्शन और चिन्तनमें अपना समय नहीं लगाना चाहिये। संसारका कार्य भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये—सबको भगवान् समझकर उनके हितके उद्देश्यसे करना चाहिये। उससे किसी प्रकारकी आशा नहीं रखनी चाहिये। मनके संकल्प-विकल्प तो कामनाके त्यागसे ही मिट सकते हैं, दूसरोंके दोष देखने और उनकी निन्दा करनेसे नहीं; इससे तो उल्टे बढ़ते हैं।

× × × ×

भगवान् अच्छे क्यों नहीं लगते, इसपर विचार करनेपर पता चलेगा कि असत्‌का सङ्ग ही इसमें बाधक है। पहले भगवान्‌का प्रेम मिल जाय, पीछे असत्‌का त्याग कर देंगे—यह सम्भव नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति-को साधन-सामग्री मानना पड़ेगा। परिस्थितिका परिवर्तन करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, किंतु प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करनेमें कोई कठिनाई या पराधीनता नहीं है।

× × × ×

आप भगवान्‌की ओर चलना चाहते हैं, यह बड़ी अच्छी बात है। सबसे पहले आपको अपनी जानकारीके अनुसार साधन करना चाहिये, अर्थात् जो कुछ जानते हैं, उसको मानना चाहिये। साथ ही ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिये, जिसको आप बुरा समझते हैं तथा ऐसा काम अवश्य सर्वहितकारीभावसे करना चाहिये, जिसको आप अच्छा समझते हैं।

× × × ×

मनुष्य जब स्वयं सात्त्विक हो जाता है, तब उसको

सात्त्विक वातावरण अपने-आप प्राप्त हो जाता है । कलिकालका प्रभाव उनपर ही पड़ता है, जो पापयुक्त जीवन विताते हुए; सांसारिक सुख चाहते हैं । आप दूसरोंमें दोष देखते हैं, पर अपने नहीं देखते । यही आपमें कमी है । पहले अपना सुधार करना चाहिये, दूसरोंका सुधार करना आपके वशकी बात नहीं है ।

× × × ×

आपको किसी दुःखी जीवको देखकर करुणा आती है, यह भगवान्‌की आपपर विशेष कृपा है । अपना सर्वस्व अर्पण करके उस जीवको सुखी करनेकी मनमें आती है तो वैसा अवश्य करना चाहिये । आप जिसको अपना 'सर्वस्व' मानते हैं, वह वास्तवमें आपका है क्या—विचार करें; वह तो उन दुःखियोंकी ही धरोहर है ।

× × × ×

अपने अंदरका वातावरण खराब होनेसे ही चारों तरफका वातावरण खराब दिखायी देता है । लोगोंके दोष देखना, उन्हें दोषी समझना वातावरणको खराब करना है । साधकको इससे सदा बचना चाहिये ।

× × × ×

आपको अपनेमें अच्छापन और दैवी सम्पदाके गुण दिखायी दें और उस कारणसे आपमें अच्छाईका अभिमान उत्पन्न हो जाय तो समझना चाहिये कि भगवान्‌की कृपाका आपने अनादर किया है । (संकलित)

व्याकुलता

भगवान्‌के प्रति मन कैसा होना चाहिये ? जैसे सतीका मन पतिकी ओर, कृपणका धनकी ओर और विषयीका विषयकी ओर होता है, उसी प्रकार जिस समय मन भगवान्‌के प्रति होगा, उसी समय भगवान् प्राप्त हो जायँगे ।

माँके पाँच बच्चे हैं । उसने किसीको खिलौना, किसीको गुड़िया और किसीको खाना देकर भुला रखा है । उनमेंसे जो खिलौना फेंककर 'माँ-माँ' कहकर रोने लगता है, माँ झट उसे गोदीमें उठाकर शान्त करने लगती है । हे जीव ! तुम कामिनी-काञ्चनमें भूले हुए हो । यह सब फेंककर जिस समय तुम जगन्माताके लिये रोने लगोगे, उसी क्षण वह आकर तुम्हें गोदीमें ले लेगी ।

'धन आदि मुझे नहीं मिला, मुझे लड़का नहीं हुआ' यह कह-कहकर लोग आँसुओंकी धारा बहाया करते हैं, परंतु 'मुझे भगवान् नहीं मिले, उनके चरण-कमलोंमें मेरी भक्ति नहीं हुई', यह कहकर क्या कोई अपनी आँखोंसे एक बूँद भी आँसू गिराता है ?

ईसा एक दिन समुद्रके किनारे घूम रहे थे । एक भक्तने आकर उनसे पूछा—'प्रभो ! ईश्वर कैसे मिल सकता है ?' उन्होंने तत्क्षण उसे जलमें ले जाकर डुबा रखा । कुछ देर बाद हाथ पकड़कर उससे पूछा—'कहो, तुम्हारी कैसी अवस्था हो रही थी ?' भक्तने उत्तर दिया—'प्राण अब गये, तब गये—ऐसा व्याकुल हो रहा था ।' ईसाने कहा—'जब भगवान्‌के लिये तुम्हारे प्राण इतने ही व्याकुल हो जायँगे, तभी उनके दर्शन होंगे ।'

जब दक्षिणेश्वरके मन्दिरसे संध्याकी आरतीके घंटेकी ध्वनि आती थी, तब मैं गङ्गाजीके किनारे खड़ा हो रोते-रोते चिल्लाकर कहता था—'माँ ! दिन तो चला गया; अब भी तुमको देख नहीं पाया ।'

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत वचन]

आँसू प्रेमकी प्राप्तिका परम साधन है

भगवान्‌से मिलनेके लिये भगवद्विरहके जो आँसू आते हैं, वे तो मङ्गलमय हैं और बड़े सौभाग्यसे आते हैं; उस प्रकारके आँसू तो वाञ्छनीय हैं। परंतु जिन आँसुओंमें दुःख होता है, वे बड़े दुःखद हैं। तुम विश्वास करो—तुम्हारे आँसुओंको भगवान् देखते हैं और वे पोंछते भी हैं तथा पोंछेंगे भी और उन्हींके पोंछनेसे आँसू पोंछे भी जायँगे। पर राधाजी तो आँसुओंको बहुत पसंद करती हैं। वे कहती हैं—

अरी सखि मेरे तन-मन, प्रान—
धन-जन, कुल-गृह—सबही, वे हैं, सील, मान, अभिमान॥
आँसू-सलिल छाँड़ि नहिं कछु धन है राधा के पास।
जाके विनिमय मिलैं, प्रेमधन नीलकांतमनि खास॥
जानि लेहु सजनी, निस्चै यह परम सार कौ सार।
स्याम-प्रेम को मोल अमोलक सुचि अँसुवन की धार॥

आँसुओंकी पवित्र धारा प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी मधुर स्मृति कराती है, इसलिये प्रेमीजन उसे प्रेमास्पद तथा प्रेमकी प्राप्तिका परम साधन मानते हैं।

प्रेमराज्यमें प्रभु सदा साथ रहते हैं

प्रभुके लिये जो अपने मनको खाली कर देता है, उस मनमें प्रभु सदाके लिये आ विराजते हैं और उसपर अपना एकाधिकार कर लेते हैं। फिर निकाले भी नहीं निकलते। प्रेमी भक्तको निरन्तर केवल उनकी स्मृति ही नहीं होती—केवल संनिधिका ही अनुभव नहीं होता, निरन्तर लीलादर्शन भी होता रहता है तथा लीलामें सहयोगका भी सौभाग्य प्राप्त होता है। वह लीलाका भी अनुभव करता है। प्रभुके इस नित्य-मिलनको कोई हटा नहीं सकता, बल्कि इसकी प्रगाढ़ता और स्पष्टता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। प्रेमराज्यमें प्रभु सदा साथ रहते हैं—यह सर्वथा निश्चित बात है। हमारी ही कमी है, जो हम प्रभुके अनन्य प्रेम करके उनके नित्यसङ्गका सुख प्राप्त नहीं करते।

'सखी-भाव' पूर्ण समर्पणका भाव है

भक्तगण अपनी रुचिके अनुसार भगवान्‌से विविध प्रकारके सम्बन्ध स्थापितकर उन्हें भजा करते हैं। इनके अनन्त भाव हैं, परंतु आचार्योंने उनमेंसे पाँच भावोंको मुख्यरूप दिया है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। कोई महानुभाव शान्तको सबसे अन्तिम भाव मानते हैं तो कोई सबसे प्रथम। रुचिवैचित्र्य है। साथ ही शान्तभावके स्वरूप भी दो तरहके हैं। अस्तु, अब रहे दास्यसे लेकर माधुर्यतक चार भाव। इन चारोंमें उत्तरोत्तर प्रगाढ़ता है, परंतु यह नियम नहीं कि क्रमसे ही इन भावोंका प्रयोग किया जाता हो। माधुर्य-भावको पूर्ण समर्पणका भाव मानते हैं। जैसे पतिके चरणोंमें पत्नी अपने आपको पूर्णतया समर्पित करके, उसीको अपनी परमगति, परम आश्रय, परम लाभ, परम आदर्श मानकर-

तन, मन, धनसे सेवा करती है, उसी प्रकार भक्त भी भगवान्‌को ही अपना एकमात्र स्वामी मानकर सर्वात्मभावसे सर्वार्पण करके उन्हें ही भजता है। इस प्रकारके भजनका नाम ही 'सखीभाव' है।

भगवत्प्रेरित कर्म करें

जिस प्रकार कोई नौकर मालिकके कराये ही सब काम करता है, लेकिन मालिकके आदेशकी परवा न करके यदि वह मनमाना आचरण करने लगे तो मालिक उसे सजा देता ही है, उसी प्रकार हमने भी ईश्वरकी ईश्वरता भुला दी है और उसकी प्रेरणापर ध्यान न देकर अपनेको ही ठीक करनेवाला—कर्त्ता मान लिया है। इस मिथ्या अभिमानसे प्रेरित होकर ही हम कर्म करते हैं और इसीलिये उसका फल भी भोगते हैं। यदि हम अपने कर्तृत्वाभिमानको छोड़कर भगवत्प्रेरित कर्म करें तो अवश्य कर्मफलसे मुक्त हो सकते हैं। उस समय हमारे अंदर स्वार्थबुद्धि नहीं रहेगी और स्वार्थ न रहनेसे हम पापमें भी प्रवृत्त नहीं होंगे।

सदा उनके हाथके इशारेपर सब कुछ होता रहे

अपना जीवन तो प्रभुके चरणोंमें सदाके लिये समर्पित ही है। जीवन-पुष्प उनके चरणोंमें चढ़ा ही हुआ है। अब नया समर्पण और नया चढ़ाना क्या होगा। थोड़ी-सी सीमामें हम क्यों आबद्ध रहें। प्रभुके चरण सर्वत्र हैं, सदा हैं और हमारा अनन्त जीवन भी सर्वत्र है, सदा है; जहाँ प्रभु रक्खें, वहीं उनको समर्पित है। अतएव हमको निश्चिन्त रहना चाहिये। प्रभुके चरणोंपर चढ़े जीवनके लिये हम क्यों चिन्ता करें। जैसे उनकी इच्छा हो, वैसे ही वे करें-करायें। अपने तो उनके हाथकी कठपुतली बने रहना है। वे नचायें, घुमायें, ऊपर करें, नीचे करें, सुला दें, बिठा दें, भगा दें—जो कुछ भी करें, सदा उनके हाथके इशारेपर सब कुछ होता रहे।

सदा-सर्वदा पवित्र प्रेम-रसका सेवन करें

भगवान्‌में तुम्हारा जो अतुलनीय प्रेम है और प्रेमके स्वभाववश तुम अपनेमें प्रेमका अभाव देखते हुए भगवान्‌से सदा पवित्र प्रेमके लिये ही प्रार्थना करते हो, यह तुम्हारा परम सौभाग्य है। प्रेम भगवान्‌की अखण्ड और मधुर सुखमयी स्मृति कराता है। प्रभुकी स्मृति स्वभावतः ही दूरी, भेद और विस्मृतिका विनाश कर देती है और दिनोंदिन प्रेम-रसको परिमाण तथा माधुर्यमें बढ़ाती रहती है। प्रेम ही एक ऐसा रस है, जो सारी नीरसताका नाश करके जीवनको रसमय बना देता है। जीवनमें जबतक नीरसता है, तबतक कामका नाश नहीं होता; क्योंकि नीरसता रस प्राप्त करनेकी इच्छासे निरन्तर कामका सेवन कराती है और कामसे नये-नये दोष, विकार, दुःख, निराशा, विषाद आदि उत्पन्न होते रहते हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको सदा-सर्वदा पवित्र प्रेम-रसका सेवन करना चाहिये, जो रसरूप, रसमय, रसराज प्रभुका—दूरी तथा समस्त भेदोंको मिटाकर—नित्य स्पर्श, नित्य मिलन करा देता है।

श्रीकिशोरीजी और श्रीश्यामसुन्दर एक ही हैं

श्रीकिशोरीजीका पृथक् ध्यान न करके केवल श्रीश्यामसुन्दरका ध्यान करनेसे या उन्हींसे प्रेम करनेसे भी श्रीकिशोरीजीकी अवश्य प्राप्ति हो सकती है। वास्तवमें श्रीकिशोरीजी और श्रीश्यामसुन्दर एक ही हैं। श्रीश्यामसुन्दर शक्तिमान् हैं और श्रीकिशोरीजी उनकी शक्ति हैं। वे पृथक् और अपृथक्—दोनों रूपोंमें रहते हैं। जब साधक श्रीश्यामसुन्दरको ही अपना ध्येय समझता है, तब श्रीकिशोरीजी उनसे अपृथक्‌भावसे उनके साथ रहती हैं। साधक इस बातको जानता हो तो ठीक है, न जानता हो तो भी

कोई हर्ज नहीं है। इसलिये केवल श्रीश्यामसुन्दरको ध्येय माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। जो लोग श्रीकिशोरीजीको श्रीश्यामसुन्दरसे पृथक् मानते हैं, उनकी उपासना भगवल्लीला-प्रधान है। लीलामें श्रीकिशोरीजी पृथक्-रूपसे ही रहती हैं। इसलिये उनका कहना भी ठीक है। परंतु जिनकी उपासनामें भगवत्स्मरणकी प्रधानता हो, उनके लिये वैसा मानना जरूरी नहीं है।

क्रोधसे किसीका कोई लाभ सम्भव नहीं है

आप क्रोधको व्यक्त होनेसे रोक लेते हैं, यह बहुत अच्छा है। मनसे क्रोध दूर करनेके लिये आप उसके कारणपर विचार न करके इस बातपर विचार करें कि क्रोध करनेसे आपका या जिसपर आप क्रोध करना चाहते हैं, उसका क्या लाभ होगा। यदि किसीका कोई लाभ होता दिखायी दे तो अवश्य क्रोध कीजिये और यदि किसीका भी लाभ नहीं जान पड़ता हो तो अपने चित्तको क्रोधाग्निसे जलाना व्यर्थ ही है।

ममताका त्याग ही सच्चा त्याग है

यह बात निश्चित है कि संसारमें हमारा कुछ नहीं है, सब भगवान्‌का ही है। यदि यह निश्चय दृढ़ हो जाय तो हमारे पास त्यागनेको कोई चीज ही नहीं रहती। तब तो हमारा जीवन त्यागमय ही है। इस प्रकार ममताका त्याग ही सच्चा त्याग है और निर्भय जीवन ही सच्चा त्यागमय जीवन है।

सबसे बड़ा भगवान्‌का बल है

हिंदुओंको बलवान् बनना चाहिये तथा समयपर धर्म और आत्मरक्षाके लिये तैयार रहना चाहिये—यह ठीक है। पर बल ऐसा हो, जिससे किसीपर अत्याचार न हो, किसीके साथ अन्याय न हो, दुर्बल न सताये जायँ, स्वार्थवश किसीपर आक्रमण न हो, परंतु जिसका प्रयोग बिना किसी द्वेषके दुर्बलकी रक्षामें, धर्मरक्षा या आत्मरक्षामें किया जा सके। सबसे बड़ा भगवान्‌का बल है, जिसके भरोसे श्रीलक्ष्मणजीने ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह उठाने, मूलीकी तरह तोड़ने और शिवधनुषको छत्रकी भाँति नष्ट कर डालनेकी साहसपूर्ण वाणी कही थी। वह बल भगवान्‌की सच्ची शरणागतिसे ही प्राप्त होता है; क्योंकि शरणागत भक्तमें भागवती शक्ति अवतीर्ण होकर अपनी लीला करने लगती है। उस सर्वशक्तिके सामने समस्त शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं; तथापि शारीरिक बल, धन-बल, विद्या-बलकी उपेक्षा नहीं है। इनका भी यथेष्ट अर्जन करना यथायोग्य उचित है, परंतु इनका ही आश्रय नहीं होना चाहिये। जो इन्हींके आश्रित हो जाते हैं, वे तो असुर हैं और असुरोंका दैवबलके सामने पराजित होना निश्चित है, समय चाहे अधिक लगे।

भगवत्प्रेमकी प्यास शान्तिका सबसे बड़ा साधन है

भगवत्प्रेमकी प्यास शान्तिका सबसे बड़ा साधन है। वस्तुतः संसारके सभी जीव अतृप्तिकी आगसे जल रहे हैं। उनमेंसे अधिकांशने तरह-तरहके सांसारिक भोगोंको ही अपनी शान्तिका साधन मान रखा है। इसलिये विश्वम्भर श्रीश्यामसुन्दर भी उनको अभीष्ट भोग देकर उन्हें बहला देते हैं। परंतु जो महाभाग इन भोगोंकी ओरसे मुँह मोड़कर एकमात्र श्रीश्यामसुन्दरके लिये मचल जाते हैं, उनपर उनकी मायाका वश नहीं चलता। उनके लिये तो उन्हें स्वयं ही आना पड़ता है।

जप, ध्यान और स्वाध्यायका समय निश्चित होना चाहिये

स्वाध्याय भी भजनका ही अङ्ग है। इसलिये नियमित रूपसे स्वाध्याय भी अवश्य करना चाहिये। जप, ध्यान और स्वाध्यायका समय निश्चित होना चाहिये। शेष समय मानसिक जप चलता रहे। दैनिक कार्यक्रमका निश्चय तो अपनी सुविधाके अनुसार आप ही कर सकते हैं। मोटे रूपमें यों समझना चाहिये—स्वाध्यायमें अर्थपर ध्यान रखते हुए कम-से-कम एक अध्याय गीता और श्रीरामायणजीका मास-पारायण रहे तो अच्छा ही है। श्रीमद्भागवतका भी कम-से-कम एक अध्याय तो रहना ही चाहिये। ध्यानके लिये कम-से-कम आधा घंटा सवेरे और आधा घंटा शाम रखिये। उसके लिये आधे घंटेतक निश्चल आसनमें बैठनेका अभ्यास होना चाहिये। दिनभरमें कम-से-कम पाँच माला बैठकर जप करना चाहिये।

भगवान् कभी निराश नहीं करते

आप भगवत्प्रेम पानेके लिये उत्सुक हैं तो भगवान् आपपर अवश्य कृपा करेंगे। उनकी कृपासे ही तो यह उत्सुकता प्राप्त हुई है। इसलिये मनमें यह निश्चय रखिये कि जिन्होंने यह प्यास लगायी है, वे ही इसे शान्त भी करेंगे। भगवान् कभी निराश नहीं करते।

भगवन्नाम, रूप और लीला—ये आपके साथी बने रहें

आपके यहाँ सत्सङ्गका अभाव है तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। आप भगवन्नामको ही अपना चिर-सहचर बनाइये, फिर आप ऐसा अभाव अनुभव नहीं करेंगे। भगवान्‌के नाम, रूप और लीला—ये आपके साथ बने रहें; और किसीके सङ्गकी आपको क्या जरूरत होगी। इनसे बड़ा और कोई संत भी आपको कहाँ मिलेगा। जपसे नामका, ध्यानसे रूपका और गीता-भागवतादिके स्वाध्यायसे भगवल्लीलाओंका सङ्ग हो सकता है।

(पुराने पत्रोंसे संगृहीत)

प्रीति ना छुड़ावौ गिरिधारी नँदलाल सौं

तौक पहिरावौ, पाँव बेड़ी लै भरावौ,
गाढ़े बंधन बँधावौ औ खिचावौ काची खाल सौं।
विष लै पिलावौ, तापै मूठ भी चलावौ, मझ-
धार में डुबावौ, बाँधि पाथर 'कमाल' सौं॥
बिच्छू लै बिछावौ, तापै मोहि लै सुलावौ, फेरि
आग भी लगावौ, बाँधि कापड़-दुसाल सौं।
गिरि तैं गिरावौ, काले नाग तैं डसावौ,
हा हा ! प्रीति ना छुड़ावौ गिरिधारी नँदलाल सौं॥

'श्रीभगवन्नाम-कौमुदी' के कुछ निष्कर्ष—४

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क पृष्ठ ९४९ से आगे]

पुराण वेदवत् हैं

नाम-संकीर्तनकी महिमापर उठनेवाले संशय एवं तत्सम्बन्धी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षपर एक दृष्टि डाली गयी। अब इसके सम्बन्धमें सिद्धान्त उपस्थित किया जाता है। बात यह है कि स्मृतियों और पुराणोंके विरोधके प्रसङ्गमें विकल्प, व्यवस्था अथवा समुच्चय आदिका समावेश नहीं है। कारण, इन दोनोंकी प्रामाणिकता समान नहीं है। स्मृतियाँ क्या हैं? वेदके द्वारा पदार्थका ज्ञान हो जानेपर महर्षिगण दूसरे पदोंके द्वारा वाक्योंकी रचना करते हैं—ये ही स्मृतियाँ हैं। और पुराण, वे तो वेद ही हैं। महाभारत और मनुस्मृतिमें कहा गया है—'इतिहास-पुराणके द्वारा वेदोंका समुपबृंहण करना चाहिये।' 'समुपबृंहण' अर्थात् संवर्द्धन। जो पूरण करे, वह 'पुराण'। अवेदसे वेदकी वृद्धि नहीं हो सकती। स्वर्णके अधूरे कंगनको शीशेसे पूर्ण नहीं किया जाता। यह शङ्का निरर्थक है कि जैसे विजातीय जलके द्वारा दूधकी वृद्धि की जाती है, वैसे ही वेदसे भिन्न इतिहास-पुराणोंके द्वारा वेदकी वृद्धि की जाती है। जलसे दूधकी वृद्धि नहीं होती, क्षय होता है; अतः यह शङ्का अयुक्त है। वस्तुतः वेद और पुराण दोनों ही एक विशिष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाले पद-कदम्ब हैं एवं अपौरुषेय हैं। अतः वे अभिन्न हैं। भेदका निर्देश तो इसलिये किया जाता है कि वेदोंमें उदात्तादि स्वरोंका नियम होता है, पुराणोंमें नहीं। वैदिक मन्त्रोंमें जैसी आनुपूर्वी है, वैसी पौराणिक वचनोंमें नहीं है। यही भेद-निर्देशका हेतु है। पुराणोंमें पुराणोंके लिये साक्षात् 'वेद' शब्दका ही प्रयोग है। पुराणोंको 'पञ्चम वेद' भी कहा गया है। यदि दोनों एक जातिके न होते तो पञ्चम संख्याका संनिवेश न होता। ब्रह्मयज्ञके प्रसङ्गमें ब्राह्मण, इतिहास और पुराणका स्वाध्याय भी विहित है। यह पुराणोंके अवेद होनेपर कथमपि सम्भव नहीं था। स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि 'कालवशात् पुराणोंका प्रचार-प्रसार कम देखकर मैं व्यासावतार ग्रहण करता हूँ-और उनका संकलन करता हूँ।' मात्स्य, कौर्म आदि नाम काठक आदिके समान प्रवचनमूलक हैं अथवा आनुपूर्वीके निर्माणके कारण हैं। श्रुतियों और पुराणोंमें विरोध होनेपर नियतानुपूर्वी-युक्त श्रुतियाँ पुराणोंकी अपेक्षा प्रबल होती हैं। परंतु जहाँ स्मृति और पुराणोंका विरोध होता है, वहाँ स्मृतियोंकी अपेक्षा पुराण ही प्रबल हैं।

ऐसी स्थितिमें पुराणोंका असीमित प्रामाण्य है। उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थ वास्तविक हैं। यह संशय नितान्त असंगत है कि पौराणिक वचनोंकी ऐसी प्रामाणिकता स्वीकार करनेपर स्मृतियोंका विषयसर्वस्व ही बाधित हो जायगा। हमारा कहना है कि भले ही स्मृतियाँ बाधित हो जायँ, परंतु पुराणोंके स्वारस्यको कुचलकर व्यवस्था आदिकी कल्पना नहीं की जा सकती। नारदीयपुराणमें कहा गया है कि 'वेदार्थसे भी अधिक है पुराणार्थ। पुराणोंमें वेदार्थ प्रतिष्ठित है। यदि शान्त-दान्त पुरुष भी पुराणोंको मिथ्या माने तो उसकी सद्गति नहीं होती, उसे तिर्यक्-योनिकी प्राप्ति होती है।' स्कन्दपुराण भी यही आशय प्रकट करता है। श्रुति-स्मृति नेत्र हैं। पुराण है हृदय। नेत्र एक न हो तो काना, दो न हों तो अंधा; परंतु पुराण ही न हो तो हृदय-शून्य। अतः स्मृति-पुराण-विरोधमें पुराण ही न्यायतः विजयी हैं।

पौराणिक व्यवस्थाका आशय

कोई यह कहे कि यदि हम अपनी ओरसे व्यवस्था करते तो दूसरी बात थी, पुराणोंके वचन ही स्वयं अपनी व्यवस्था बनाते हैं—जैसे 'जबतक वैराग्य न हो, तबतक कर्माधिकार है। जहाँ न पूर्ण वैराग्य हो, न पूर्ण आसक्ति हो, वहाँ भक्तियोगाधिकार है। पूर्ण वैराग्य होनेपर ज्ञानयोगाधिकार है। ऐसी स्थितिमें व्यवस्था बनानेके कारण हमपर आक्षेप क्यों?'

इसका उत्तर यह है कि इस प्रकारकी व्यवस्था मुमुक्षुके लिये है। मुमुक्षुके जीवनमें उसकी चित्त-दशाके भेदसे कर्म, भक्ति एवं ज्ञानकी व्यवस्था है। उसमें कोई विरोध नहीं है। 'विश्वासके अनुरूप सिद्धि मिलती है'—इस वचनसे भी कीर्तन आदिकी शक्तिका माप नहीं होता। उसकी शक्ति अपरिमित है। पात्रके परिमाणसे समुद्रजलका परिमाण निश्चित करना तर्क-संगत नहीं है। मन्त्रका प्रभाव निरङ्कुश है। विश्वास-की मात्रासे वह एकमात्रामें गृहीत होता है।

कीर्तन श्रद्धानिरपेक्ष है

जो लोग कहते हैं कि श्रद्धापूर्वक करनेपर ही नाम-कीर्तन फलप्रद होता है, उनका मत ठीक नहीं है। हम उनसे पूछते हैं कि 'क्या श्रद्धासे मनुष्यकी कीर्तनमें प्रवृत्तिमात्र ही होती है अथवा कीर्तनादिके फल-साधनमें श्रद्धाका अन्तर्भाव होता है?' इसका अभिप्राय यह है कि यदि श्रद्धा प्रवृत्तिका ही हेतु है तब तो कोई बिना श्रद्धाके कीर्तन करने लगे तो उसे फल अवश्य मिलेगा; क्योंकि फलका हेतु कीर्तन है, अर्थात् पापक्षय होगा ही। यदि कहो कि श्रद्धा पापक्षयरूप फलमें हेतु है तो यह हेतुता अर्थात् पापक्षयकी साधनता कैसे ज्ञात हुई—शास्त्रसे अथवा प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाणसे? इसके सम्बन्धमें अनेक पक्ष-प्रतिपक्ष हैं और श्रद्धा-सहकृत कीर्तनको पापक्षयका आलम्बन माननेसे आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक एवं अनवस्था आदि दोषोंकी प्राप्ति होती है। अतः अवहेलनापूर्वक किये गये नामोच्चारणसे पापक्षयकी घोषणा करनेवाले शास्त्रप्रमाणके रहते हुए कीर्तनमें श्रद्धाकी अपेक्षा मानना असंगत है। श्रद्धा हो तो कोई आपत्ति नहीं है; परंतु न हो तो पापक्षयरूप फलमें न्यूनता नहीं आ सकती। निष्कर्ष इतना ही है कि कीर्तनमें श्रद्धाकी अनिवार्यता नहीं है।

यदि ऐसा पूर्वपक्ष उठाया जाय कि 'जैसे विश्वास-पूर्वक आयुर्वेदिक औषधका सेवन करनेसे रोग-निवृत्ति-रूप फल होता है, उसी प्रकार विश्वासपूर्वक कीर्तन ही लाभकारी है' तो इसका उत्तर यह है कि औषध-विषयक विश्वास लोकव्यवहारके दर्शनसे होता है, केवल शास्त्रवचनसे ही नहीं, जब कि कीर्तन और पापक्षयका सम्बन्ध प्रत्यक्षादिगम्य नहीं, शास्त्रैकगम्य है, अतीन्द्रिय है, उसे श्रद्धाकी सहायता अपेक्षित नहीं है। हेत्वाभास-दूषित अनुमानोंके द्वारा कीर्तनको श्रद्धापरतन्त्र बनानेकी आवश्यकता नहीं है।

यह भी ध्यान देनेयोग्य है कि यदि किसी कर्मके अनेक अङ्ग हों, वह बहुधनसाध्य हो, बरसोंतक करने-का हो और करनेमें बहुत कठिन हो, तब श्रद्धाके बिना उस कर्ममें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होगी। वहाँ श्रद्धालु अधिकारी होता है और साधन श्रद्धा-सापेक्ष होता है। जहाँ साधन सुगम होता है—जैसे कीर्तनादि, वहाँ प्रकारान्तरसे भी प्रवृत्ति हो सकती है। उसमें श्रद्धासे ही प्रवृत्ति हो, यह आवश्यक नहीं है। शास्त्रीय व्यवस्था भी ऐसी ही है। अतः श्रद्धाको कीर्तनाधिकारका हेतु मानना अयुक्त है।

भक्ति कीर्तनके पहले नहीं पीछे

भक्तिपूर्वक नाम-कीर्तनसे पापक्षय होगा—ऐसी कल्पना भी असंगत ही है; क्योंकि यदि नवधाभक्ति प्राप्त करके कीर्तन करे—ऐसा अभिप्राय हो, तब तो

नवधाभक्तिके अन्तर्गत कीर्तनका अधिकारी नवधाभक्ति-विशिष्ट होना चाहिये, इस कथनमें ही वदतोव्याघात है। यदि भावभक्तिसे युक्त पुरुष कीर्तनका अधिकारी है—ऐसी बात कहें तो भावभक्ति कीर्तनका फल है, अपने पूर्ववर्ती अधिकारका विशेषण नहीं। भावभक्ति-की प्राप्तिकी इच्छासे कीर्तन करे—यों कहा जा सकता है। पापाचरण-जनित दोषके निरासके लिये कीर्तन करे—यह कहना ठीक है। कीर्तनसे पापक्षय होता है। जो लोग कहते हैं कि 'भावोदय होनेके पश्चात् भगवद्भजन ही पापका नाश करता है', उनका यह कहना ठीक है; परंतु भावोदयके पूर्वके पापोंके प्रायश्चित्तके लिये स्मार्त विधि-विधानके अनुसार व्रतादिका अनुष्ठान करना चाहिये—उनका यह कथन भी अविचारित-रमणीय है; क्योंकि कीर्तनसे पाप नष्ट होनेपर ही भाव उदय होगा। पापके नष्ट होनेपर भी अन्तःकरणमें कामादिकी विद्यमानताके कारण पुनः-पुनः अशुभ वासनाओंका उदय होना सम्भव है, उनकी निवृत्तिके लिये भावोदयकी अपेक्षा है, पापक्षयके लिये नहीं।

पुराणोंमें ऐसे प्रसङ्ग आते हैं कि जिनमें यमराज अपने दूतोंको आदेश देते हैं—'सावधान! भूलकर भी भगवत्प्रेमी भक्त संतोंके पास मत जाना। उन्हें दूरसे ही छोड़ देना। हम उनके शासक नहीं हैं' इत्यादि। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'ऐसे भगवत्प्रेमी संतोंके पास यमदूतोंके जानेका प्रसङ्ग ही कहाँ है? उनमें न पाप है और न वे पापी हैं; ऐसी स्थितिमें यमदूतोंके निषेधका क्या अभिप्राय है?'

यह सच है कि सत्पुरुषोंमें पाप नहीं है। यदि राग-द्वेष आदि न होनेपर भी प्रमादवश कुछ हो जाय तो भावपूर्वक नाम-कीर्तनसे ही उसका नाश हो जाता है। वहाँ भी कीर्तन ही पापको नष्ट करता है। भाव तो वहाँ भी उदासीन ही रहता है। अत्यन्त तुच्छके साथ क्या उलझना? ऐसे सत्पुरुषोंके यमपुरीमें लाये जाने या नरकपातका तो कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। बात यह है कि उनके आस-पास रहनेवाले जो लोग हैं, वे भी यमराजके शासनसे बाहर हैं। अतः यमराज यमदूतोंको उपदेश देते हैं कि 'जिस पथपर संतोंकी कुटिया भी पड़ती हो, उसपर मत जाना। दूरसे—बहुत दूरसे उन्हें छोड़ देना। उपनिषदोंमें भी ऐसे प्रसङ्ग आते हैं कि जिन्हें सर्वत्र भगवद्भाव अथवा सर्वात्मभावकी प्राप्ति हो गयी है, उनके दृष्टिपथमें रहनेवाले सभी प्राणी यमराजके शासनसे मुक्त हो जाते हैं। उनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, उस सीमामें यमराज अथवा यमराजके दूतोंकी गति नहीं है। यह तो प्रसिद्ध भी है कि 'तीर्थादि चिरकालमें पवित्र करते हैं और संत दर्शन-मात्रसे।' वह दर्शन भले ही संत किसी प्राणीका करे या प्राणी उस संतका—दोनों ही पावन हैं। कीर्तनकी ध्वनि चारों ओर फैलकर सारे व्यवधानोंको चीर डालती है और अंध-बधिरोंको भी यमशासनसे मुक्त कर देती है। अभिप्राय यह है कि केवल कीर्तन ही पापक्षयका हेतु है; भक्ति न उसका अङ्ग है और न अधिकारीका विशेषण।

कीर्तनमें ज्ञानकी शर्त नहीं

कीर्तनीय परमेश्वरका ज्ञान भी कीर्तनमें पापक्षयके लिये अपेक्षित नहीं है। विवशता, संकेत, परिहास आदिसे उच्चारित नाम भी पाप-ध्वंसक हैं। यह सिद्ध किया जा चुका है कि इन शब्दोंका कोई अन्य तात्पर्य नहीं है; क्योंकि ये बार-बार दुहराये गये हैं और समस्त शास्त्रोंमें इनका प्रयोग है। 'अपि' शब्दका प्रयोग भी सर्वत्र हो, ऐसी बात नहीं है। कहीं-कहीं 'यद् व्याजहार विवशो' इत्यादिमें 'अपि' शब्दका प्रयोग नहीं है। वहाँ 'अपि' शब्दका अध्याहार करना भी उचित

नहीं है; क्योंकि शास्त्रोक्तको सिद्ध करनेके लिये अध्याहार किया जाता है, शास्त्रोक्तका बाध करनेके लिये नहीं। नाम-कीर्तन, तद्विषया 'मति' अर्थात् ब्रह्मविद्या एवं स्वस्त्ययन अर्थात् मोक्ष भी दे सकता है, तो पापक्षय कौन बड़ी बात है।' देखिये न! शास्त्रवचन ही स्पष्ट निर्देश करते हैं—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥
(भागवत ६। २। १८-१९)

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥
(बृहन्नारदीय० १। ११। १००)

ज्ञान और अज्ञान—दोनों दशामें उच्चारित नाम पापक्षयका हेतु है। दृष्टान्त है, ज्ञात-अज्ञात—दोनों ही अग्नि दाहक होते हैं। ज्ञात-अज्ञात दोनों प्रकारके औषध रोगनाशक होते हैं। ज्ञात-अज्ञात—दोनों प्रकारके मन्त्र अपना गुण प्रकट करते हैं। दुष्ट-चित्त पुरुषोंके द्वारा स्मृत हरि भी पाप-हरण करते हैं। अनिच्छा-संस्पृष्ट अग्नि भी जलाता है। चार अक्षरोंका 'नारायण', दो अक्षरोंका 'हरि', दो अक्षरोंका 'शिव'—यह कहनेका अभिप्राय ही यह है कि नाम अर्थानुसंधानकी अपेक्षा नहीं रखता। निष्कर्ष यह है कि नाम-कीर्तनके लिये ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। कीर्तनके द्वारा पापक्षय होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ज्ञान प्राप्त करके कीर्तन किया जाय, तब तो सर्वथा उल्टा ही हो जायगा। फलको साधन बनानेकी चेष्टा अनुचित है।

कीर्तनमें अनुतापकी अपेक्षा नहीं

कोई यह कहे कि पाप करनेके बाद जिसको पश्चात्ताप होता है, उसका तो एक बार नामोच्चारणसे ही पाप नष्ट हो जाता है; परंतु जिसको पश्चात्ताप नहीं होता, उसको पुनः-पुनः नामकीर्तन करना चाहिये, तो ऐसी व्यवस्था भी पूर्णरूपसे मान्य नहीं है। मुख्य विचारणीय यह है कि पापकी निवृत्ति विधिके सामर्थ्यसे होती है कि नामके सामर्थ्यसे? यदि विधि-सामर्थ्यसे होती है तो दोनों ही जगह पश्चात्तापकी आवश्यकता है; क्योंकि जिसको पश्चात्ताप है, वही प्रायश्चित्तका अधिकारी है। यदि नामके सामर्थ्यसे पापकी निवृत्ति होती है तो कहीं भी पश्चात्तापका उपयोग नहीं है। सूर्य तपस्वीकी आँखोंके सामनेसे अन्धकार हटा दे और भोगीके नेत्राङ्गणमें व्याप्त अन्धकारका अपनयन न करे—यह सम्भव नहीं; क्योंकि पदार्थका स्वभाव पुरुषगत योग्यताकी अपेक्षा नहीं रखता।

यह निश्चय है कि नाम अपनी महिमासे ही पापक्षय करता है, विधानके सामर्थ्यसे नहीं। विधिके दो प्रकार हैं, एक, 'कीर्त्तितव्य' आदि वाक्य और दूसरा, कीर्तनरूप कार्य। इनमेंसे प्रथम विधि प्रमाणरूप ही है। प्रमाण प्रमेयमें अविद्यमान महिमाको उत्पन्न नहीं करता, किंतु यथावस्थित वस्तु-तत्त्वको ही, जो अज्ञात है ज्ञात कराता है। शबरस्वामीने ठीक ही कहा है कि 'मनुष्यको उपायका ज्ञान नहीं है, इसलिये उसको उपाय बतलाया जाता है।' नैष्कर्म्यसिद्धिकार श्रीसुरेश्वराचार्य कहते हैं कि शास्त्र सूर्यवत् है, वह प्राप्ति-परिहारके उपाय प्रकाशित करता है। यदि विधिका प्रकार नाम-कीर्तनादिका अनुष्ठान हो तो वह सीधे अपने फल पापक्षयको उत्पन्न करेगा; वह दूसरे साधनके अधीन नहीं होगा। नाम स्वतः पावन और पाप-निवर्तक है। क्या सूर्य जन-नयनाङ्गनसे तिमिरापनयन करनेके लिये बार-बार उदय होता है? एक बारका नाम पर्याप्त है—पापक्षयके लिये।

ऐसी स्थितिमें जिन शास्त्र-वचनोंमें अनुताप और आवृत्तिका कथन है, उनकी क्या व्याख्या हो सकती है?

'पश्चात्ताप होनेपर एकमात्र हरि-संस्मरण ही प्रायश्चित्त है' इस वचनका इतना ही अभिप्राय है कि कीर्तन पापक्षयका साधन है। 'प्रायश्चित्त' शब्दका मुख्य अर्थ कीर्तन नहीं है। प्रायः=तप। चित्त=निश्चय। कीर्तन न तप है न निश्चय। अभिप्राय यह है कि जैसे प्रायश्चित्त हितका साधन है, वैसे कीर्तन हितका साधन है। हित क्या है? सुखकी प्राप्ति और अनर्थकी निवृत्ति। अनर्थ-परिहाररूप हित यह स्पष्ट करता है कि कीर्तन विधिप्राप्त है। जो जिससे अनुतप्त होता है, उसके लिये अनुतापके कारणकी निवृत्ति ही हित होती है। जो पापसे अनुतप्त है, उसके लिये कीर्तन 'हित' अर्थात् पापनिवृत्तिका साधन है। बार-बार 'परम्', 'एकम्', 'सकृत्' कहकर इसे निरपेक्ष-साधन बताया गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि संकीर्तन कोई कठिन कार्य नहीं है; अतः पश्चात्ताप होनेपर ही इसमें प्रवृत्ति हो, यह आवश्यक नहीं है। देख-सुनकर भी इसमें प्रवृत्ति हो सकती है। पापक्षयकी कामना हो, तभी कीर्तन फल दे—यह भी आवश्यक नहीं है। यदि कोई यज्ञ करे तो उसे स्वर्ग मिलेगा; परंतु वह इतना बड़ा काम है कि कौतूहलसे या देख-सुनकर उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। काम्यकर्मका परित्याग कर देना चाहिये—ऐसा भी शास्त्रादेश है।

आवृत्ति और पापक्षय

अब हम इस निश्चयपर पहुँच गये कि नाम-कीर्तन ही पापक्षयका हेतु है। तब आवृत्तिका क्या प्रयोजन है? भूतकालिक पापोंकी निवृत्ति कीर्तनसे और भविष्यमें सम्भव पापोंकी निवृत्ति आवृत्तिसे। आइये, इसपर थोड़ा विचार करें।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि 'यदि प्रायश्चित्त करनेपर भी मन पुनः असन्मार्गमें जाता है तो वह ऐकान्तिक प्रायश्चित्त नहीं हुआ। बार-बार भगवद्-गुणानुवादरूप कीर्तन अन्तःकरणको आत्यन्तिकरूपसे शुद्ध कर देता है अर्थात् आवृत्ति अत्यन्त शुद्धिका साधन है।' यह अत्यन्त शुद्धि क्या है? वासनासहित पापोंका क्षय। मुमुक्षु अधिकारियोंके लिये 'तीर्थपदानुकीर्तन' ही कर्मबन्ध-निकृन्तन है। जो 'केशवालम्बन' है, उसका यम, यमदूत, यातना—कोई कभी अनिष्ट नहीं कर सकते। जहाँ अष्टाक्षर ब्रह्मविद्याकी आवृत्तिका प्रसङ्ग है, वहाँ मोक्ष प्रकरण है और परम शुद्धि ही विवक्षित है। अथवा पूर्वोक्त प्रसङ्गका यों भी समाधान कर सकते हैं कि एक बार नामोच्चारणसे पाप नष्ट तो हो गये, परंतु अश्रद्धाके कारण अपनी अपवित्रताका भ्रम दूर नहीं हुआ। ऐसी स्थितिमें दुःखकी निवृत्ति भी नहीं होगी। उसको दूर करनेके लिये पुनः-पुनः आवृत्ति अपेक्षित है। एक यह भी समाधान है कि एक बारके नामकीर्तनसे अप्रारब्ध पापका नाश हो जाता है। प्रारब्ध पापके नाशके लिये आवृत्तिका निरूपण है। यही 'सद्यः-सद्यः' की संगति है।

मृत्यु और कीर्तन

कुछ लोगोंका ऐसा विचार है कि श्रद्धा-विश्वासके बिना भी नामोच्चारण समस्त पापोंका क्षय कर देता है, परंतु यह बात केवल मरते समयके नामोच्चारणके सम्बन्धमें ही है। ऐसा कहना भी अविचारित-रमणीय है। अजामिलके लिये जहाँ 'म्रियमाण' शब्दका प्रयोग है, वहाँ उत्तरार्धपर भी ध्यान दीजिये—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥
(श्रीमद्भाग० ६। २। ४९)

वास्तविकता यह है कि यहाँ मरण-कालमें नाम लिया जाय—यह अर्थ विवक्षित नहीं है। इस श्लोकमें कैमुत्य-न्यायका प्रयोग है। इसका उदाहरण यह है—अमुक लकड़ी-पत्थर भी पचा सकते हैं, फिर पूरी-कचौड़ीमें

रखा ही क्या है। ऐसे स्थलोंमें 'भी' शब्दके साथ जो बात कही जाती है, वह गौण होती है और 'क्या' के साथ कही जानेवाली बात मुख्य होती है। यदि इस प्रसङ्गमें मृत्युकाल विवक्षित होता तो यों कहा जाता कि 'स्वस्थ पुरुष भी कीर्तनसे भगवान्‌के परमधाममें चला जाता है, तब जो मर रहा है, उसके लिये क्या कहना।' परंतु बात इस प्रकार नहीं कही गयी। अजामिल म्रियमाण था, बेहोश। उसमें श्रद्धाका बल नहीं था। उसने पुत्रके उद्देश्यसे हरि-नामका उच्चारण किया, फिर भी वह कल्याण-भाजन हो गया। फिर जीवन-कालमें श्रद्धाके साथ, जान-बूझकर भगवन्नामका उच्चारण किया जाय तो क्या कहना! यहाँ मृत्युके समय नाम-संकीर्तन करे—यह विवक्षित अर्थ नहीं है। सच पूछो तो अजामिल वास्तवमें म्रियमाण नहीं था। वह तो बादमें भी जीवित रहा, पापक्षय हो जानेसे कल्याणके मार्गमें पड़ गया। मरते समय ही भगवान्‌का नाम लेना चाहिये—यह कौन कहता है? ठीक-ठीक मृत्युके समय नामोच्चारण सर्वथा अशक्य है। इसलिये वैसा अर्थ माननेमें अशक्यानुष्ठानरूप अप्रामाण्य भी है।

कीर्तन अनुष्ठानसे भिन्न है

नामोच्चारणके लिये ग्रहण आदि काल, पर्वत-शिखर आदि देश, कुश-ऊर्णा आदि पवित्र आसनोंका जो निर्देश मिलता है, वह विधिपूर्वक अनुष्ठानका अङ्ग है। अनुष्ठान, पुरश्चरण आदिसे मन्त्रोंका संस्कार होता है, अग्न्याधानके समान। संस्कार करके लौकिक एवं पारलौकिक फलोंकी प्राप्तिके लिये उनका विनियोग होता है। अतः नामोच्चारणके द्वारा पापक्षयरूप फलकी प्राप्तिमें उनका उपयोग नहीं है।

मानसिक शुद्धि मुमुक्षुके लिये है

मनकी एकाग्रता, पवित्रता, मौन, मन्त्रार्थ-चिन्तन आदि नामोच्चारणके ये अनिवार्य अङ्ग नहीं हैं। उनसे जप-सम्पत्ति होती है। सम्पत्ति सकाम कर्ममें आवश्यक है, पापक्षय तो कीर्तनसे ही हो जाता है। एक दूसरा समाधान यह भी है कि जप दूसरी वस्तु है और कीर्तन दूसरी। उनकी आवश्यकता जपके लिये है, कीर्तनके लिये नहीं। नाम हृदयमें पवित्रता लाता है। हृदय पवित्र हो जानेपर ही नामोच्चारण करना चाहिये—यह नियम नहीं है। कीर्तनके प्रसङ्गमें जहाँ-जहाँ नियमका उपदेश मिलता है, वह मोक्ष-साधनाका अङ्ग है, पापक्षयार्थ नहीं। जैसे समाधि ज्ञानद्वारा मोक्षका साधन है, वैसे ही कीर्तन भी। यह श्रवणके समान साक्षात् साधन नहीं, अन्तःकरण-शुद्धिरूप प्रतिबन्धके निरासद्वारा साधन है।

कीर्तनसे मोक्षका क्रम

कीर्तनसे पापोंका क्षय होता है। कीर्तनकी आवृत्तिसे भगवद्विषयक वासनाएँ बढ़ती हैं और पाप-वासनाएँ क्षीण होती हैं। संतजनोंकी निरन्तर सेवा होती है। उनके श्रीमुखसे भगवन्महिमाका श्रवण करनेसे पुण्यश्लोक-शिरोमणि भगवान्‌में समृद्ध नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है। शोकादि उच्छिन्न हो जाते हैं। सत्त्वका परमोत्कर्ष होता है। इसके बाद तत्त्व-साक्षात्कार होकर मुक्ति होती है। यह क्रम श्रीमद्-भागवतमें देखा जा सकता है। वेदान्त-श्रवण करनेपर भी प्रतिबन्धवशात् ज्ञान न हो तो भक्ति प्रतिबन्धको हटा देती है। यदि वेदान्त-श्रवण न हो तो स्वयं भगवान् देहान्तके समय तत्त्वज्ञानका उपदेश कर देते हैं।

नाम-कीर्तन वेदोक्त

भगवान्‌का कीर्तन आदि किसी भी नाम अथवा मन्त्रके द्वारा किया जा सकता है। कीर्तन मुक्तिफलके साक्षात् साधन-ज्ञानका हेतु है—यह बात अनेक वेदमन्त्रोंके द्वारा वर्णित नाम-महिमासे भी प्रकट होती है। **'मनामहे' 'विचक्रमे'** आदि पदघटित मन्त्रोंका अनुसंधान कीजिये। जहाँ-जहाँ कीर्तनके लिये किसी

धर्मका उल्लेख है, वहाँ-वहाँ पापक्षयके लिये नहीं, अमृतत्व-साधनके लिये। यही कारण है कि पुराणोंमें अद्भुत कथाएँ मिलती हैं। एक व्याडि नामका व्याध था। वह स्वयं तो हिंसा-परायण था ही, दूसरोंको भी हिंसाके लिये प्रवृत्त करते समय 'आहर' (लूट लाओ), 'प्रहर' (प्रहार करो), 'संहर' (मार डालो)—इस प्रकार बोला करता था। इस प्रसङ्गवश किये हुए 'हर' नामोच्चारणसे भी उसके पाप दूर हो गये और दूसरे जन्ममें उसे तत्त्वज्ञान हो गया।

नाम-कीर्तन विधि है

'जहाँ विधि होती है, वहाँ किसलिये, किसके द्वारा, किस प्रकार कर्म करे—इन सब कर्तव्यताओंका वर्णन होता है। कीर्तनके साथ जब कोई अपेक्षा ही नहीं है, तब विधि कैसे?'

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'सत्य बोले', 'धैर्य रखे'—ये जो विधि-वाक्य हैं, इनके साथ किसी अङ्गका उपदेश नहीं है और न इनमें अतिदेश ही किया जा सकता है। ऐसी स्थितिमें क्या ये विधि-वाक्य नहीं हैं? अवश्य हैं। इनमें यदि किसी सहायककी अपेक्षा है तो केवल इतना ही कि जिह्वा, तालु, कण्ठ आदिके संयोगसे नामोच्चारण हो सके। अच्छा, यह तो बताइये कि जैसे कर्म-सम्बन्धी अपूर्व विधियाँ होती हैं, वैसे ही यदि अन्य प्रमाणसे अनवगत यह कीर्तन भी पापक्षयके लिये अपूर्वविधि हो तो क्या आपत्ति है? विना किसी बाधाके कीर्तनके द्वारा पापक्षय सिद्ध है। इसपर कोई पर्दा नहीं डाला जा सकता।

प्रत्येक नामकी शक्ति अनन्त है

प्रश्न यह है कि 'भगवान्‌के प्रत्येक नाममें पाप-क्षयकी इतनी शक्ति है या सब नामोंके योगमें या किसी-किसी विशेष नाममें?' इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के प्रत्येक नाममें ही ऐसा सामर्थ्य है। यह कहना गलत है कि फिर तो नरक-सृष्टि निरर्थक हो जायगी। पूर्व-पापका दाह हो जानेपर भी उत्तरकालिक पापसे अथवा महापुरुषोंके अपमानसे नरककी प्राप्ति होगी। अतः नरकका होना भी सफल रहेगा। राजा भरतकी मृगासक्ति ऋषभदेवके अनुग्रह और उपासनाके फलमें प्रतिबन्धक हो गयी। ब्रह्मवित् सनकादिकोंका अपमान करनेसे वैकुण्ठवासी जय-विजयका भी अधः-पतन हुआ। भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया कि 'यदि ये महात्माओंके विपरीत चलें तो मैं अपनी इन भुजाओंको भी काट सकता हूँ।' भगवान् भक्तके अधीन हैं—यह प्रसिद्ध ही है। एक चिन्तामणिकी जितनी महिमा है, उतनी ही सहस्रों चिन्तामणियोंकी। कल्पवृक्ष और कामधेनुकी गणना अधिक होनेसे उनकी महिमा नहीं बढ़ती। एक-एक भगवन्नामकी महिमा निरङ्कुश है। निश्चित ही नामापराध भी नामसे ही निवृत्त होते हैं।

स्मार्त प्रायश्चित्त व्यर्थ नहीं हैं

ऐसी स्थितिमें क्या स्मार्त प्रायश्चित्त सर्वथा व्यर्थ हैं? इसका उत्तर है—नहीं, वे भी सार्थक हैं। पुराणोंने भी यह स्वीकार किया है कि तप, दान और व्रतसे पापोंकी निवृत्ति होती है। स्मार्त प्रायश्चित्त व्यर्थ तो तब होते, जब कहा जाता कि केवल कीर्तन ही करे, और कुछ न करे। प्रायः मनुष्योंकी बुद्धि अश्रद्धासे ग्रस्त रहती है; इसलिये संकेत, परिहास आदिके व्याजसे भी उनकी नामोच्चारणमें प्रवृत्ति हो, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता। अतः स्मार्त प्रायश्चित्तके लिये पूरा-पूरा अवकाश है। लोक-व्यवहारमें देखा जाता है कि किसीकी प्रवृत्ति सुगम चिकित्सामें होती है और किसीकी कठिन चिकित्सामें। अपनी-अपनी रुचि है। किसी-किसीको स्वभावसे ही सुकर चिकित्सा नहीं रुचती। काष्ठौषधसे निवर्त्य रोगके लिये भी अमीर लोग स्वर्ण-मणिघटित रस-भस्मका ही प्रयोग करते हैं। वस्तुतः दुर्वार दुर्वासनासे ग्रस्त मनुष्योंके हृदयमें पुरुषोत्तमसे विमुखता ही निवास करती है। वे नाममें प्रवृत्त नहीं

हो सकते । उनके लिये स्मार्त प्रायश्चित्त सफल, सार्थक एवं सावकाश हैं ।

कीर्तनकी महिमा यथार्थ है

'अश्वमेध-यज्ञानुष्ठान और यज्ञका ज्ञान—दोनोंका समान फल कहा गया है ।' ऐसा भी है कि 'पूर्णाहुति-मात्रसे ही कामना-पूर्ति होती है ।' यदि इन वचनोंको ज्यों-का-त्यों यथार्थ मान लिया जाय तो कोई कर्मा-नुष्ठान क्यों करे ? अतः इन्हें अर्थवाद मानना पड़ता है । परंतु यह दृष्टान्त देकर नाम-कीर्तनकी महिमाको अर्थवाद नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान यज्ञका अङ्ग है; अतः पहले अश्वमेधको जानो, फिर अश्वमेध करो । पहले यज्ञ कर लो, तब पूर्णाहुति करो । परंतु नाम-कीर्तन न स्मार्त प्रायश्चित्तका अङ्ग है और न नाम-कीर्तनके कारण प्रायश्चित्त व्यर्थ ही होते हैं । अतः नाम-कीर्तनकी महिमा यथार्थ है, अर्थवाद नहीं ।

निबन्धका प्रयोजन

अच्छा, अब एक प्रश्नका उत्तर हम और चाहते हैं । आपका कहना है कि बिना श्रद्धाके नाम-कीर्तनमात्रसे ही पापक्षय हो जाता है; यही न ? तो आप यह बतलाइये कि इतना बड़ा निबन्ध लिखनेकी क्या आवश्यकता थी, इससे किस प्रयोजनकी सिद्धि हुई । आप इसके द्वारा श्रद्धा ही तो सिद्ध कर रहे हैं ? फिर तो आ गये मार्गपर, कीर्तनके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता है । इसका उत्तर यह है कि यह सच है; नाम-कीर्तनसे पाप तो दूर हो जाता है, परंतु अश्रद्धाके कारण मानसिक दुःखकी निवृत्ति नहीं होती । अतः अश्रद्धाकी निवृत्तिरूप मानसिक शान्तिके लिये इस निबन्धकी रचना की गयी है—

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा-
माचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः ।
नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः ॥
(ग्रन्थकार)

यह लीजिये मन्त्र । वह है—'श्रीराम' । इसमें न 'नमः' है, न चतुर्थी । यह शुद्ध नाम है । इसने शुद्धान्तःकरण, श्रेष्ठतम महात्माओंको अपनी ओर आकर्षित किया है—आकर्षण-विद्या है यह । यह बड़े-बड़े पापोंको भगा देता है—उच्चाटन-कला है । मोक्ष-लक्ष्मीको वशमें करनेके लिये वशीकरण-मन्त्र है । जाति-पाँतिका भेदभाव किये बिना सभी बोल सकनेवालोंके लिये परम लाभ—पराप्राप्ति है । इसके लिये दीक्षा-ग्रहण और दक्षिणा-दानकी भी आवश्यकता नहीं । विधि-विधान, अनुष्ठान-संस्कारकी किंचिन्मात्र अपेक्षा नहीं । उनकी ओर यह आँख उठाकर भी नहीं देखता । बस, यह जैसे-तैसे हमारी रसनाका स्पर्श कर ले—इतनेमात्रसे ही यह फलीभूत हो जाता है । वस्तुतः यही फल है । (समाप्त)

हरि बिना कौन अपना है ?

हरि बिनु को अपनौ संसार !
माया-मोह बँध्यौ जग बूड़त काल-नदी की धार ॥
जैसैं संघट होत नाव मैं, रहत न पैलै पार ।
सुत-संपति-दारा सौं ऐसैं बिछुरत लगै न बार ॥
जैसैं सपनें रंक पाय निधि जानै कछू न सार ।
ऐसैं छिनभंगुर देही को गरबहि करत गँवार ॥
जैसैं अँधरे टेक तन डोलत, गनत न खाइ-पनार ।
ऐसैं 'ब्यास' बहुत उपदेसे, सुनि-सुनि गए न पार ॥

—व्यासजी

अन्त ही अनन्तका द्वार है

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

दृष्टि खुली हो तो प्रत्येक अन्त ही अनन्तके दर्शनका द्वार है। गुरु-ज्ञानमें दृष्टि खुलनेपर दीखने लगता है कि जगत्में जिसका आरम्भ है, उसीका अन्त है। जिसका आरम्भ नहीं है, उसका अन्त भी नहीं है, वही अनन्त है। अनन्त परमात्मामें ही अगणित आरम्भ और अन्त चलते रहते हैं। अनन्त परमात्मासे विमुख रहनेके कारण ही अन्तमें मृत्युका भय है, उसीकी चिन्ता है और प्रत्येक सुखके अन्तमें दुःख है। हमारे सामने जितने भी आरम्भ हैं, वे सभी अन्तकी ओर बढ़ते जाते हैं, इसीलिये हम अशान्त होते हैं। अन्तरात्मा निरन्तर शान्तिकी प्यासी है, पर हमारे साथ क्षुद्र अहंकार अपनी कृतियोंसे अशान्तिमें ले जाता है। अहंकार सदैव वासना, कामना, महत्त्वाकाङ्क्षाकी पूर्तिकी ही तैयारीमें लगा रहता है; अन्तमें महत्त्वाकाङ्क्षा ही संतापका मूल कारण बनती है। जहाँसे वासना, कामना, महत्त्वाकाङ्क्षाका अन्त होता है, वहींसे शाश्वत शान्तिका द्वार खुल जाता है।

आरम्भमें हम जो कुछ भी देखते हैं, उसीमें मुग्ध होकर उसके अन्तको भूल जाते हैं। तभी आनेवाले अन्तसे अशान्त—दुःखी होकर पुनः आरम्भकी ओर लौटते हैं और न चाहते हुए पुनः अन्तका दुःख भोगते हैं।"·····तृष्णा एवं भयवश जो मानव स्वयंमें शान्त नहीं है, वही अस्वस्थ है। जो अस्वस्थ है, वही आरम्भसे ही लोभी, मोही, कामी और महत्त्वाकाङ्क्षी होता है। जबतक अनन्तका योगानुभव नहीं होता, तबतक महत्त्वाकाङ्क्षी दूसरोंकी दृष्टिमें सम्पन्न—श्रेष्ठ होते हुए भी स्वयं अशान्त रहता है; क्योंकि संसारमें जो कुछ भी प्राप्त होता है, उसीका अन्त होता है। जीवनमें जिसका भी संयोग हुआ है, उसका अन्त वियोगमें होगा। वियोगरूपी अन्त होनेपर पुनः संयोगकी कामना न की जाय, तब वियोगका अन्त नित्य-अनन्त परमात्माके योगमें होता है। प्रत्येक सुखका अन्त दुःखमें होता है; यदि दुःखरूपी अन्तको देखकर पुनः सांसारिक सुखकी इच्छाका त्याग कर दिया जाय तो उस दुःखका अन्त शाश्वत शान्तिमें होता है। शरीरका अन्त मृत्युमें होता है। यदि मृत्युरूपी अन्त होनेके पहले ही अनन्त जीवनको जान लिया जाय, तब मृत्युका अन्त मुक्तिमें होता है। जो मनुष्य अन्त आनेके पहले ही अन्तको जान लेता है, वही अनन्तके नित्ययोगकी तैयारी करता है। जो अन्तसे डरकर आरम्भकी ओर लौटता है, वह अन्तके भयसे कभी मुक्त नहीं हो पाता। प्रत्येक अन्त उस अनन्तका संदेश दे रहा है, पर अन्तवान्का रागी, मोही, लोभी मनुष्य उस संदेशके प्रति सावधान नहीं होता।

परमगुरु भगवान् बुद्धिमान्-विद्वान् मानवको उपदेश दे चुके हैं कि 'विनाशी देहमें रहनेवाले अविनाशी आत्माको देखो, उसे ही जानो।' देहके छूटते समय प्रायः इतना कष्ट होता है कि बुद्धिमें रहनेवाली विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है। उस समय अविनाशीका बोध कठिन है। अतः अभीसे, अर्थात् जबसे सुनो, तभीसे मुक्ति, भक्ति और शान्तिके अनुभवकी तैयारी करो। जहाँ किसी प्रकारका आरम्भ दीखता है, वहीं किसी रूपका अन्त भी होता है। प्रत्येक आरम्भके साथ ही अन्त है और प्रत्येक अन्तके आगे आरम्भ है। आरम्भ और अन्तके मध्यमें जो निरन्तर विद्यमान है, वही अनन्त है। आरम्भ और अन्तके मध्यमें अनन्तकी अनुभूतिकी साधना ही 'संध्योपासना' कही जाती है। प्रायः लोग संध्याका आरम्भ करते हैं और कुछ देरमें संध्याका अन्त भी कर देते हैं; पर अनन्तके साक्षात्की तैयारी नहीं करते। ज्ञान-विज्ञान-वेत्ताके लिये प्रत्येक संधि परमात्माके दर्शनका द्वार है। परमगुरु भगवान्का निर्णय है कि 'जो पुरुष अन्त समयमें अनन्त-अविनाशी परमात्माको स्मरण रखते हुए अन्त होनेवाली वस्तु तथा अवस्था अथवा दुःखद-सुखद परिस्थितिसे अलग हो जाता है, वही परमात्माका योगी होता है।' परंतु अन्त समयमें परमात्माका स्मरण करना उसीके लिये सुगम होता है, जो आरम्भसे ही अथवा मध्यसे भी बार-बार परमात्माके स्मरणका अभ्यास दृढ़ कर चुका है।

प्रायः अन्त समयमें उसीका स्मरण आता है, जिससे प्रगाढ़ स्नेह होता है, या घोर द्वेष या भय होता है, अथवा जिसका अभ्यास हो। अन्त समयमें लोभी धनकी चिन्ता करता है, मोही सम्बन्धित व्यक्तिकी चिन्ता करता है, कामी अपने सुख या सुखदकी चिन्ता करता है। केवल भक्त ही भगवान्का चिन्तन करता है। भगवान्का चिन्तन वही करता है, जो आरम्भसे ही अपना कुछ न मानकर सब कुछके दाता स्वामी केवल भगवान्को ही जानता है। परमेश्वरका ही सब है, सबमें परमात्माका ही अंशरूप जीवात्मा है। जीवात्माका परमाश्रय अथवा परमधाम परमात्मा है। यह जीवात्मा संसारके अन्तवान् दृश्यों एवं सम्बन्धोंमें अथवा विनाशी रूपों एवं क्षणिक सुखोंमें अटक गया है। इसीलिये अज्ञानका आरम्भ तो देखता है, पर अन्त नहीं देखता। जो आरम्भके साथ ही उसकी गतिका अन्त देखने लगता है, वही कल्याणार्थी अन्तकालमें मुक्तिकी तैयारी करता है। परमगुरु भगवान्का निर्णय है कि 'प्रयाणकालमें जो अन्तवान् देह छोड़ते समय अनन्तको अपने आपमें ही ध्यानसे देखता है, वह परमपुरुष परमात्माको प्राप्त होता

है ।' हम देहको छोड़ते हुए अन्तिम प्रयाणकाल मानते थे, पर अब पता चला कि जगत्‌में जन्म लेनेके पश्चात् प्रयाण हो रहा है । जबतक जीवात्मारूपी अणु महान् परमात्मामें युक्त न दीखेगा, तबतक प्रयाण चलता ही रहेगा । जन्मसे ही प्रयाण आरम्भ होता है, मृत्युतक प्रयाण चलता है, पुनः दूसरे लोकोंके लिये अथवा स्वर्ग-नरकके लिये प्रयाण चलता है । इससे तो यही निर्णय कर लेना है कि प्रत्येक समय प्रयाणकाल है । इसीलिये प्रत्येक समय परमात्माका स्मरण करना ही अन्त समयमें अनन्तके योगानुभवकी तैयारी है । कोई यात्री उष्णप्रदेशसे शीतप्रदेशकी यात्रा करता है, तब अन्तमें वहाँ पहुँचकर रहनेके लिये यात्राके आरम्भमें ही अन्तमें काम आनेवाली साधन-सामग्रीकी तैयारी करता है । आश्चर्य है कि कुछ दूरकी यात्राके लिये और कुछ समय कहीं ठहरनेकी सुविधाके लिये मनुष्य आरम्भसे ही पूर्ण तैयारी करता है; लेकिन इस जगत्‌से यात्रा होगी, परलोकमें जाना होगा, यहाँका जो कुछ है, यहीं छूट जायगा । परलोकमें जो कुछ काम आयेगा, उसकी तैयारी जो मनुष्य नहीं करता है, वह यहाँ 'मूढ़' है । जो परमगुरु भगवान्‌के आदेश-निर्देश-उपदेशको नहीं सुनता, वही 'महामूर्ख' है । जो मूढ़ता तथा मूर्खताका त्याग कर पाते हैं, वही अन्त समयके लिये विधिवत् तैयारी करते हैं ।

यह गुरुनिर्णय है कि जिस प्रकार लोभी धन-प्राप्तिकी और धनरक्षाकी तैयारीमें तत्पर है, मोही अपने तथा निज सम्बन्धियोंके शरीरोंको स्वस्थ बनाये रखनेकी तैयारीमें सदा चिन्तित रहता है तथा भोगी सदा सुख-सुविधाकी सामग्री बढ़ानेकी तैयारीमें लगा है, उसी प्रकार परमार्थी साधक सबके अन्तको जानकर अनन्त प्रभुके लिये प्यासा होता है और जब श्वास-श्वासमें साधना चलने लगती है, तभी परम प्रभुके योगानुभवका अधिकारी बन जाता है । अनन्त प्रभुके लिये प्रज्वलित प्यास ही नित्ययोगका पथ बन जाती है । जो जन, धन, मान तथा भोगजनित सुखके प्यासे हैं, उनके हृदयमें परमप्रभुको पानेकी प्यास प्रज्वलित नहीं होती । जो अन्तवान् रूपों, सुखों और संयोगोंमें अटक जाता है, वह अनन्तके द्वारको नहीं देख पाता । बाहर जो कुछ भी इन्द्रिय-दृष्टिसे प्रतीत हो रहा है, सब मृत्युसे घिरा है, जो भीतर है, वही अमृत है, सनातन है, अनन्त है । विवेकी साधक दूरसे ही अन्तवान्‌को देखकर भीतर लौटनेकी तैयारी करते हैं और अन्तमें पतित न होकर अनन्तके लिये उत्थित होते हैं । अन्तवान् वस्तुओंके साथ अपनेको मिलाकर 'मैं' बन जाना ही पतन है । किसी अन्यके साथ, विनाशीके साथ 'मैं'का मिट जाना ही परमात्माके लिये उत्थान है और परमात्मामें प्रतिष्ठित होनेका मुहूर्त है । जडके साथ मिलकर जो जडमय है, नित्य चेतनके साथ मिलकर वही चिन्मय है । जडसे विमुख होकर चेतनके सम्मुख होना ही चिन्मय होनेकी तैयारी है ।

जब यह सत्य समझमें आ जाता है कि संसारमें हम सभी पथिक हैं, हम सब निरन्तर यात्रा कर रहे हैं, प्रतिदिन, प्रतिक्षण हम सबके लिये प्रयाणकाल ही है और यात्राका अन्त तभी होगा, जब अपने निज धाममें लौटकर विश्रामको प्राप्त होंगे, तभी अनन्तके सम्मुख हो जाते हैं । परमगुरुने प्रयाणकालमें परमात्माके स्मरणके लिये कल्याणार्थी पथिकको सावधान किया है । अतः हम संसारके पथिकोंको सतत सावधान रहकर सर्वदा निरन्तर परमात्माका स्मरण करते रहना चाहिये । निरन्तर स्मरण तभी सुगम होता है, जब प्राणोंकी प्रत्येक साँस साधना बन जाती है । इसीलिये अनुभवी संत प्राणोंकी गतिके साथ, 'सोऽहं हंसः'का चिन्तन चलाते रहते हैं अथवा नाम-स्मरण करते हैं । श्वासके साथ परमात्माके किसी नामका अभ्यास साधा जा सकता है। आवश्यकता है दृढ़ संकल्पकी और सावधान रहनेकी । परमात्माके सतत स्मरणके लिये उनके उस स्वरूपका ज्ञान होना भी परम आवश्यक है, जो हमारे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सर्वत्र विद्यमान है, जो स्मरणमात्रसे ही सुलभ दीखता है । आज हम अनेकों कल्याणार्थी साधक जपकी संख्या पूर्ण करनेकी तैयारी करते हैं, कुछ समयतक अखण्ड नाम-संकीर्तन चलानेकी तैयारी करते हैं, अखण्ड पाठकी तैयारी करते हैं और उत्साह, श्रमके साथ तैयारी करते हुए अपने संकल्पकी पूर्तिसे संतुष्ट हो जाते हैं; पर अन्तमें अनन्तके योगी नहीं हो पाते ।

जो आरम्भ, मध्य तथा अन्तका परमाश्रय है, वही अनन्त है, अविनाशी है । जो सब कुछ आरम्भ होनेके प्रथम और अन्त होनेके पश्चात् शेष रहता है, वही सत्य परमात्मा है । परमगुरु भगवान्‌का यही संदेश—उपदेश है कि सब प्रकारकी तैयारियोंमें व्यस्त रहते हुए जो विवेकी—परिणामदर्शी साधक हैं, उन्हें अन्त समयकी तैयारीका दृढ़ संकल्प करना चाहिये । जो अन्त समयके लिये तैयारीमें आलस्य-प्रमाद करता है, वही अन्तवान्‌का भोगी बनकर मनसे रोगी बनता है । जो अन्त समयके लिये तैयारी करता है, वह श्रमी, संयमी, सदाचारी, विवेकी तथा यथार्थदर्शी होकर अनन्त परमात्माका योगी होता है और नित्य आनन्दका अनुभव करता है ।

गीताका भक्तियोग—१३

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृष्ठ ९५२ से आगे]

सम्बन्ध

अगले दो श्लोकोंमें सिद्धभक्तके दस लक्षणोंवाला पाँचवाँ प्रकरण कहते हैं—

श्लोक

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

भावार्थ—

भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें प्रभुके प्रति अनन्य प्रेम होनेसे तथा प्रेमके निरन्तर बढ़ते रहनेसे उसके साथ अनुकूलता-प्रतिकूलताका बर्ताव करनेवालोंके प्रति उसके अन्तःकरणमें विकारका कोई कारण ही नहीं रहता। वह मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुतिमें सदा-सर्वदा सम होता है। उसका परमात्माके सिवा और किसी जगह राग* नहीं रहता। राग न रहनेसे किसीके प्रति द्वेष होनेकी भी गुंजाइश ही नहीं रहती। उसके द्वारा परमात्माके स्वरूपका स्वतः मनन होता रहता है। जो परिस्थिति प्राप्त हो, उसीमें उसे महान् आनन्दका अनुभव होता है। शरीरमें भी उसे अपनेपनका अनुभव नहीं होता तथा उसकी बुद्धि निश्चलभावसे परमात्मामें स्थिर हो गयी रहती है। ऐसा भगवान्का भक्त भगवान्को प्यारा है।

* एकमात्र परमात्मामें राग रहनेसे भक्तका संसारसे द्वेष नहीं होगा; क्योंकि परमात्माके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। किंतु परमात्माके सिवा अन्य किसीमें यदि राग है तो द्वेष होगा ही—यह नियम है।

साधकके लिये एक विशेष ध्यान देनेकी बात यह है कि संसारमें राग-द्वेष करनेसे ही संसारके साथ 'मैं'पन दृढ़ होता है एवं संसारके प्रति राग-द्वेषरहित होनेसे 'मैं'पनका सम्बन्ध भगवान्के साथ स्वतः शेष रह जाता है।

इन श्लोकोंमें भक्तका सदा, सर्वदा, सर्वथा समभाव रहनेका वर्णन हुआ है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति—इन पाँचोंमें समता होनेसे साधक सर्वथा समभावमें स्थित हो जायगा; नहीं तो अन्यत्र सम होनेपर भी वह सर्वथा सम नहीं होगा, अर्थात् उपर्युक्त पाँचों स्थानोंमें समभाव न रहनेकी गुंजाइश रह सकती है।

अन्वय—

शत्रौ, च, मित्रे, तथा, मानापमानयोः, समः, शीतोष्णसुखदुःखेषु, च, समः, सङ्गविवर्जितः, तुल्यनिन्दास्तुतिः, मौनी, येन, केनचित्, संतुष्टः, अनिकेतः, स्थिरमतिः, भक्तिमान्, नरः, मे, प्रियः ॥१८-१९॥

शत्रौ च मित्रे (समः)—शत्रु और मित्रमें समबुद्धि। यहाँ भगवान्ने भक्तमें व्यक्तियोंके प्रति रहनेवाली समताका वर्णन किया है। सिद्धभक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण उसका किसीके प्रति भी शत्रु-मित्रका भाव नहीं रहता। उसका बर्ताव लोगोंके स्वभावके अनुकूल पड़नेसे लोग उसके प्रति मित्रभाव और प्रतिकूल पड़नेसे शत्रुभाव कर लेते हैं। सावधान रहते हुए भी साधकका बर्ताव भी लोगोंके अनुकूल पड़नेसे लोगोंकी उसके प्रति मित्रता और प्रतिकूल पड़नेसे शत्रुताका भाव हो जाता है। पर भक्त सर्वथा सम रहता है। उसमें किसीके प्रति शत्रु-मित्रका भाव नहीं होता। वहाँ तो अखण्ड समता रहती है।

अतः भक्तके द्वारा कभी किसीका अहित नहीं हो सकता। उसके प्रति शत्रु-मित्रका भाव दूसरोंका बनाया हुआ होता है। भक्तका भगवान्में स्वाभाविक प्रेम होनेके कारण भगवान्की ओर रुचि रखनेवालोंके प्रति उसका प्रेमयुक्त बर्ताव और भगवान्में रुचि न रखनेवालोंके प्रति

उदासीन भाव हो सकता है। अतः साधकके साथ भक्तका प्रेमयुक्त बर्ताव होता है, जब कि साधारण पुरुषके साथ उसका उदासीन भाव भी रह सकता है। 'शत्रौ मित्रे च समः' पदोंसे यह सिद्ध होता है कि भक्तके साथ भी लोग शत्रुता-मित्रताका बर्ताव करते हैं और उसके व्यवहारसे अपनेको उसका शत्रु-मित्र मानते हैं। इसीलिये उसे यहाँ शत्रु-मित्रसे रहित न कहकर 'शत्रु-मित्रमें सम' कहा गया।

सिद्ध कर्मयोगीकी छठे अध्यायके ९वें श्लोकमें 'सुहृद्' और 'द्वेष्य' तथा 'मित्र'-'अरि'में 'समबुद्धि' कही गयी है।

चौदहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' पद गुणातीत पुरुषके शत्रु-मित्रमें समान भावके द्योतक हैं।

तथा—और।

मानापमानयोः समः—(मान-अपमानमें सम)। मान-अपमान परकृत क्रिया है। भक्तका शरीरमें न तो अभिमान होता है न आसक्ति ही। इसलिये शरीरका मान-अपमान होनेपर भी भक्तके मनमें कोई विकार नहीं होता। विकारके अभावका नाम ही 'समता' है।

छठे अध्यायके ७वें श्लोकमें 'मानापमानयोः' पद 'प्रशान्तस्य' सिद्ध कर्मयोगीको तथा चौदहवें अध्यायके २५ वें श्लोकमें 'मानापमानयोस्तुल्यः' पद गुणातीत पुरुषको बतलाते हैं।

शीतोष्णयोः समः—सर्दी-गर्मीमें समान। ऋतुको लेकर स्वाभाविक ही जीवमात्रको अनुकूलता-प्रतिकूलताका भान होता है। त्वचाके सम्बन्धसे उस अनुकूलता-प्रतिकूलताका अनुभव होनेपर भी सिद्धभक्तको हर्ष-शोक नहीं होते। अतः वह सम रहता है।

गीताजीमें 'शीतोष्ण' पद जहाँ भी आये हैं 'सुख-दुःख' पदोंके साथ ही आये हैं—जैसे दूसरे अध्यायके १४वें श्लोकमें 'शीतोष्णसुखदुःखदाः' पद तथा छठे अध्यायके ७वें श्लोकमें और यहाँ भी 'शीतोष्ण-सुखदुःखेषु' पदोंका प्रयोग हुआ है। अतः ये पद केवल सर्दी-गर्मीसे होनेवाले सुख-दुःखोंका ही बोध नहीं कराते, अपितु सुख-दुःखसे अन्तःकरणमें जो शान्ति और परिताप (जलन) होते हैं—उन्हींकी ओर लक्ष्य कराते हैं।

च—और।

सुखदुःखेषु समः—सुख-दुःखादिक द्वन्द्वोंमें सम। शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके अनुकूल-प्रतिकूल घटना, पदार्थ, परिस्थिति आदिकी प्राप्ति होनेपर तथा उसका ठीक-ठीक ज्ञान होते हुए भी सिद्धभक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि किसी तरहका किंचिन्मात्र भी विकार कभी नहीं होता। वह सदा सम रहता है। इसलिये उसे 'सुख-दुःखमें सम' कहा जाता है।

दूसरे अध्यायके १५ वें श्लोकमें 'समदुःखसुखम्' पदसे तथा ३८वें श्लोकमें 'सुखदुःखे समे' पदसे साधकको सुख-दुःखकी परिस्थितिमें सम रहनेके लिये कहा गया है।

इसी प्रकार पंद्रहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः' पदोंसे साधकको सुख-दुःखमें सम रहनेके लिये कहा गया है।

दूसरे अध्यायके ५६वें श्लोकमें 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' एवं छठे अध्यायके ७वें श्लोकमें 'सुखदुःखेषु' पदोंके द्वारा सिद्ध कर्मयोगीकी तथा चौदहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'समदुःखसुखः' पदसे गुणातीत पुरुषकी सुख-दुःखमें समता बतायी गयी है। छठे अध्यायके ३२ वें श्लोकमें 'सुखं वा यदि वा दुःखं समं पश्यति' पदोंसे सिद्ध पुरुषकी सुख-दुःखमें समताका निर्देश किया गया है।

सङ्गविवर्जितः—आसक्तिसे रहित। 'सङ्ग' पदका अर्थ स्वरूपसे संयोग तथा आसक्ति, दोनों ही होते हैं।

मनुष्यमात्रके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह खरूपसे सब पदार्थोंका सङ्ग छोड़ सके; क्योंकि जबतक मनुष्य जीवित रहेगा, शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ तो उसके साथ रहेंगी ही। थोड़ी देरके लिये मान लें, किसीने खरूपसे पदार्थोंका सङ्ग छोड़ भी दिया, पर यदि भीतरमें उनके प्रति आसक्ति बनी हुई है तो प्राणी-पदार्थोंके दूर होते हुए भी उसका सम्बन्ध तो उनसे बना ही हुआ है। दूसरी ओर, यदि भीतरमें आसक्ति नहीं है तो पासमें रहनेवाले प्राणी-पदार्थ भी बाँधनेवाले नहीं होते। अतः मनुष्यको संसारमें बाँधनेवाली सांसारिक आसक्ति ही है न कि सांसारिक प्राणी-पदार्थोंका खरूपसे संयोग।

आसक्तिको मिटानेमें असमर्थ होनेपर यदि उसे (आसक्ति) मिटानेके लिये पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद किया जाय तो यह भी एक साधन हो सकता है; किंतु मूल आवश्यकता आसक्तिसे सर्वथा रहित होनेकी है। संसारके प्रति किंचिन्मात्र भी आसक्ति उसका चिन्तन कराके साधकको क्रमशः कामना, क्रोध और मूढ़ता आदिको प्राप्त कराके उसे पतनके गड्ढेमें गिरानेका हेतु बन सकती है (गीता २। ६२, ६३)। भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ५९वें श्लोकमें 'परं दृष्ट्वा रसः निवर्तते' पदोंसे भगवत्-साक्षात्कारके बाद ही इस आसक्तिकी सर्वथा निवृत्ति बतलायी है। इसी प्रकार आसक्ति-रहित साधकको ही अक्षय सुखकी प्राप्ति बतलायी गयी है (गीता ५। २१)। इसलिये यहाँ इस पदमें भक्तको आसक्तिसे सर्वथा रहित बताया गया है।

सिद्ध भक्तका भगवान्‌में अटल प्रेम होता है। अतः उसकी अन्य जगह आसक्ति नहीं रहती। गोपियाँ कहती हैं—

नाहिंन रह्यो हिय में ठौर।
'नंदनंदन अछत कैसैं आनिये उर और॥'

भगवान्‌में अविचल प्रेम न होनेपर ही दूसरी जगह आसक्ति होती है। सिद्धभक्तमें भगवत्प्रेम सदा जाग्रत् होनेसे अन्यत्र उसकी आसक्ति कैसे रह सकती है?

अतः 'सङ्गवर्जितः' पदसे 'आसक्तिसे सर्वथा शून्य' अर्थ लेना ही उपयुक्त है।

आसक्ति न तो परमात्माके अंश शुद्ध चेतनमें रहती है और न प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंमें। वह रहती है—प्रकृति और चेतनके सम्बन्धकी मान्यतामें, अर्थात् जहाँ 'मैं'की स्फुरणा होती है, वहाँ संसारके साथ सम्बन्ध माननेके कारण खयं आसक्ति अपनेमें ही रहती है। वही आसक्ति बुद्धि, मन, इन्द्रियों और पदार्थोंमें परिलक्षित होती है। दूसरे अध्यायके ५९वें श्लोकमें अपने अंदर रहनेवाली इस आसक्तिको 'अस्य रसः' पदसे एवं तीसरे अध्यायके ४०वें श्लोकमें इन्द्रिय, मन, बुद्धिको कामका वासस्थान बतलाकर उस आसक्तिका निवास इन्द्रिय, मन, बुद्धिमें बताया गया है; क्योंकि काम आसक्तिका ही कार्य है। जहाँ कार्य रहता है, वहाँ उसका कारण भी है ही। इसी प्रकार तीसरे अध्यायके ३४वें श्लोकमें 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ' पदोंमें आसक्तिकी स्थिति पदार्थोंमें कही गयी है।

यदि साधककी अपने प्रति आसक्ति मिट जाय तो और जगह प्रतीत होनेवाली आसक्ति खतः मिट जायगी। खयं साधकमें विवेक पूरी तरह जाग्रत् न होनेसे आसक्ति रहती है, किंतु उसमें रहनेवाली आसक्तिका कारण अविवेक है। भक्तमें अविवेक रहता नहीं। इसलिये वह आसक्तिसे सर्वथा रहित है।

गीताजीमें स्थान-स्थानपर भगवान्‌ने साधकको आसक्ति हटानेकी बात कही है। उदाहरणके लिये तीसरे अध्याय-के ७वें श्लोकमें 'असक्तः' पदसे, तथा १९वें श्लोकमें भी 'असक्तः' पदसे, ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'सङ्गवर्जितः' पदसे तथा पंद्रहवें अध्यायके ३रे श्लोकमें

'सङ्गवर्जितः' पदसे आसक्ति हटानेकी बात कही गयी है ।

अठारहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें 'सङ्गरहितम्' पद 'अहंकारसे रहित'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है ।

तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें 'मुक्तसङ्गः' पदसे, पाँचवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'असक्तात्मा' पदसे, आठवें अध्यायके ११वें श्लोकमें 'वीतरागाः' पदसे, तेरहवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'असक्तिः' पदसे; अठारहवें अध्यायके ६ठे तथा ९वें श्लोकोंमें 'सङ्गं त्यक्त्वा' पदोंसे, २६वें श्लोकमें 'मुक्तसङ्गः' पदसे, ४९वें श्लोकमें 'असक्तबुद्धिः' पदसे साधकको आसक्ति-शून्य होनेको कहा गया है ।

सिद्धभक्त आसक्तिरहित होता है, इस बातको बतानेके लिये दूसरे अध्यायके ५६वें श्लोकमें—'वीतरागभयक्रोधः' पद (जिसमें भय और क्रोधके साथ-साथ रागका भी सर्वथा अभाव कहा गया है), ५७वें श्लोकमें 'अनभिस्नेहः' पद, तीसरे अध्यायके २५वें श्लोकमें 'असक्तः' पद, चौथे अध्यायके १०वें श्लोकमें 'वीतरागभयक्रोधाः' पद, २३वें श्लोकमें 'गतसङ्गस्य' पद और पंद्रहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'जितसङ्गदोषाः' पद प्रयुक्त हुए हैं ।

भगवान् अथवा ब्रह्मको आसक्तिरहित बतानेके लिये नवें अध्यायके ९वें श्लोकमें तथा तेरहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'असक्तम्' पदका प्रयोग हुआ है ।

तुल्यनिन्दास्तुतिः—निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला ।

निन्दा-स्तुति मुख्यतासे नामकी होती है । यह परकृत क्रिया है । लोग अपने स्वभावके अनुसार भक्तकी निन्दा-स्तुति किया करते हैं । भगवान्‌के भक्तकी अपने कहलानेवाले नाम और शरीरमें लेशमात्र भी अभिमान और ममता नहीं रहते । इसलिये निन्दा-स्तुतिका उसके चित्तपर तनिक भी असर नहीं होता, अर्थात् वह इनमें सम होता है । भक्तकी अपनी निन्दा करनेवालेके प्रति द्वेष-बुद्धि और स्तुति करनेवालेके प्रति राग-बुद्धि नहीं होती । भक्तकी दोनोंमें ही सम-वृत्ति रहती है । साधारण मनुष्य अपनी स्तुति-प्रशंसा चाहते हैं—यहाँतक कि मरनेके बाद भी नामकी कीर्ति चाहते हैं । इसलिये वे अपनी निन्दा सुनकर दुःखी एवं स्तुति सुनकर सुखी हुआ करते हैं । साधक निन्दा सुनकर सावधान होता है और स्तुति सुनकर लज्जित होता है । पर सिद्धभक्तका नाममें अपनापन न रहनेके कारण वह इन दोनों भावोंसे रहित है, अर्थात् निन्दा-स्तुतिमें सम होता है ।

चौदहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'तुल्यनिन्दात्म-संस्तुतिः' पदसे गुणातीत पुरुषके लिये भी यह कहा गया कि वह निन्दा-स्तुतिमें सम होता है । वह पुरुष अपने स्वरूपमें अर्थात् चिन्मयतामें स्थित होता है । इसलिये जड नाम-शरीरकी निन्दा-स्तुतिका उसपर असर पड़नेका कोई कारण ही नहीं रहता; क्योंकि आत्मस्वरूपमें एक चेतनके सिवा जडताका अत्यन्ता-भाव है ।

भगवद्भक्तकी सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होनेके कारण निन्दा-स्तुति करनेवालोंमें भेदभाव नहीं रहता । अतः वह निन्दा-स्तुतिमें सम है ।

मौनी—मननशील है । सिद्धभक्तके द्वारा परमात्माके स्वरूपका स्वतः स्मरण-मनन होता है, करना नहीं पड़ता । जो भी वृत्ति उसके अंदर आती है, उसमें उसे 'वासुदेवः सर्वम् इति'—सब कुछ भगवान् है—यही दीखता है । फलतः उसके द्वारा निरन्तर ही भगवान्‌का मनन होता है ।

'मौनी'का अर्थ 'वाणीका मौन रखनेवाला' नहीं लिया जा सकता; क्योंकि ऐसा अर्थ लेनेसे वाणीके द्वारा भक्तिका प्रचार करनेवाले भक्त भक्त ही नहीं रहेंगे। इसके अतिरिक्त वाणीका संयम करनेमात्रसे यदि भक्त बनना सम्भव होता तो भक्त बनना बहुत ही सहज हो जाता और ऐसे भक्त बहुत बन जाते; किंतु संसारमें भक्तोंकी संख्या अधिक देखनेमें नहीं आती। इसलिये 'मौनी' पदका अर्थ 'भगवत्स्वरूपका मनन करनेवाला' ही लिया जाना उपयुक्त प्रतीत होता है।

पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें तथा २८वें श्लोकमें 'मुनिः' पदोंसे साधकोंको परमात्माके स्वरूपका मनन करनेवाला बताया गया है।

दूसरे अध्यायके ५६वें श्लोकमें 'मुनिः' पदसे सिद्ध कर्मयोगीकी मननशीलताका लक्ष्य कराया गया है।

दसवें अध्यायके ३८वें श्लोकमें 'मौनम्' पद वाणीके मौनका निर्देश करता है तथा सत्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें 'मौनम्' पद भगवच्चिन्तनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

येन केनचित् संतुष्टः—जिस-किस प्रकारसे भी (शरीरका निर्वाह होनेमें) सदा ही संतुष्ट रहनेवाला। दूसरे लोगोंको तो भक्त 'येन केनचित् संतुष्टः' अर्थात् प्रारब्धानुसार शरीरनिर्वाहके लिये जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट दीखता है; किंतु भक्तकी संतुष्टिका हेतु कोई भी बाहरी पदार्थ नहीं होता; नित्य-निरन्तर उसका एकमात्र परमात्मामें ही प्रेम होनेके कारण वस्तुतः वह परमात्मामें ही नित्य संतुष्ट रहता है। अनुकूल-प्रतिकूल ऋतु, काल, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदिके संयोग-वियोगका ज्ञान होनेपर भी भक्त सदा एक ही स्थितिमें रहता है। उस स्थायी एवं स्वाभाविक संतुष्टिको बतलानेके लिये ही यहाँ इन पदोंका प्रयोग किया गया है।

दूसरे अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'आत्मनि एव आत्मना तुष्टः' पद, तीसरे अध्यायके १७वें श्लोकमें 'आत्मतृप्तः' एवं 'आत्मनि एव च संतुष्टः' पद, चौथे अध्यायके २०वें श्लोकमें 'नित्यतृप्तः' पद, छठे अध्यायके २०वें श्लोकमें 'आत्मनि तुष्यति' पद और इसी अध्यायके १४वें श्लोकमें 'सततं संतुष्टः' पद इसी प्रकारकी संतुष्टिका बोध करानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अनिकेतः—रहनेके स्थानमें ममतासे रहित।

जिनके घर नहीं है, वे ही 'अनिकेत' हों—ऐसी बात नहीं है। गृहस्थी हों चाहे साधु-संन्यासी, जिनकी अपने रहनेके स्थानमें आसक्ति-ममता नहीं है, वे सभी 'अनिकेत' हैं। शरीरमें तथा रहनेके स्थानमें भक्तकी आसक्ति एवं अपनापन नहीं रहते; इसलिये वे 'अनिकेत' कहे जाते हैं।

भक्त सब कुछ भगवान्‌का मानता है। अतएव पदार्थोंके पासमें रहते हुए भी उनमें मेरापन न रहनेसे वह 'निष्किंचन' कहलाता है।

स्थिरमतिः—स्थिर बुद्धिवाला। भक्तकी बुद्धिमें परमात्म-तत्त्वकी सत्ता और स्वरूपके सम्बन्धमें कोई संशय अथवा विपर्यय (विपरीत ज्ञान) नहीं होता। अतः उसकी बुद्धि परमात्मासे कभी, किसी भी अवस्थामें विचलित नहीं होती। इसीलिये वह 'स्थिरमतिः' कहा गया है।

'स्थिरमतिः' होनेमें कामना ही बाधक होती है (गीता २। ४२—४४); अतः कामनाओंके त्यागसे ही 'स्थिरमति' सम्भव है (गीता २। ५५)। अन्तःकरणमें विषयोंकी कामना रहनेके कारण ही, बाहरी पदार्थोंकी सत्ताका बुद्धिके निश्चयमें अभाव होते हुए भी, उन पदार्थोंमें आसक्ति हो जाती है। उदाहरणके लिये सिनेमामें देखे जानेवाले तथा पुरानी बातोंको याद करते

समय मानसिक नेत्रोंके सामने प्रकट हुए प्राणि-पदार्थोंकी सत्ताके अभावका निश्चय होनेपर भी उनके प्रति आसक्ति होती हुई देखी जाती है। कामना-आसक्तिसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता दृढ़ होती है। भगवान्से पृथक् अपनी स्वतन्त्र सत्ता मिटानेके लिये यह आवश्यक है कि संसारमें कहीं आसक्ति-कामना न रहे। आसक्ति-कामनाके मिटनेसे ही अपनी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होकर एक परमात्मामें स्थिरबुद्धि होनी सम्भव है।

भक्तिमान् नरः मे प्रियः—भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। भगवान्में अत्यधिक प्रेम होनेके कारण स्वाभाविक ही भगवान्का स्मरण-मनन-जप-ध्यानादि होता है। उपर्युक्त स्मरणादिरूपा भक्तिसे युक्त पुरुषको भगवान् अपना प्यारा बतलाते हैं।

विशेष बात—सभी सिद्धभक्तोंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंका अत्यन्ताभाव, समता तथा परमशान्ति स्वतः रहती है; अपनी स्वतन्त्र सत्ताका भाव किसीमें भी नहीं होता। भगवान्के प्रति स्वाभाविक प्रियता भी सभीमें होती है।* किसी भी प्राणीका अनिष्ट अथवा अहित किसी सिद्धभक्तसे होता ही नहीं; किंतु स्वभाव, सङ्ग, साधन, स्वाध्याय, वर्ण-आश्रम आदिकी भिन्नताके कारण उपर्युक्त गुणोंके अतिरिक्त और गुणोंमें तारतम्य रह जाता है। उस तारतम्यकी ओर लक्ष्य करानेके लिये ही सिद्धभक्तोंके लक्षणोंको १३वें श्लोकसे १९वें श्लोकतक पाँच अलग-अलग प्रकरणोंमें कहा गया है। पाँचों प्रकरण स्वतन्त्र हैं। इनमेंसे किसी एक प्रकरणके अनुसार भी सभी लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही 'सिद्धभक्त' है। यह आवश्यक नहीं कि पाँचों प्रकरणोंके लक्षणोंका किसी एक भक्तमें पूर्णरूपेण समावेश हो।

भगवान्ने पहले प्रकरणके अन्तर्गत १३वें तथा १४वें श्लोकोंमें सिद्धभक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करके अन्तमें **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** कहा। इसी प्रकार दूसरे प्रकरणके अन्तर्गत १५वें श्लोकके अन्तमें **'यः स च मे प्रियः'** कहा; तीसरे प्रकरणके अन्तर्गत १६वें श्लोकके अन्तमें **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** कहा; चौथे प्रकरणके अन्तर्गत १७वें श्लोकके अन्तमें **'भक्तिमान् यः स मे प्रियः'** कहा और अन्तिम पाँचवें प्रकरणके अन्तर्गत १९वें श्लोकके अन्तमें **'भक्तिमान् मे प्रियो नरः'** कहा। भगवान्ने पाँच बार पृथक्-पृथक् 'प्रिय' पद देकर भक्तोंको पाँच पृथक् श्रेणियोंमें विभक्त कर दिया।

सभी प्रकरणोंके अन्तर्गत सिद्धभक्तके लक्षणोंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकके अभावकी बात कही गयी है। पहले प्रकरणमें **'अद्वेष्टा'** से द्वेषका, **'निर्ममः'** से रागका और **'समदुःखसुखः'** से हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। दूसरे प्रकरणमें हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगके अभावका उल्लेख किया गया है। तीसरे प्रकरणमें **'अनपेक्षः'** से रागका, **'उदासीनः'**से द्वेषका और **'गतव्यथः'** से हर्ष-शोकके अभावका निरूपण किया गया है। चौथे प्रकरणमें **'न काङ्क्षति'**से रागका, **'न द्वेष्टि'**से द्वेषका, और **'न हृष्यति'** तथा **'न शोचति'**से हर्ष-शोकका अभाव कहा गया है। अन्तिम पाँचवें प्रकरणमें **'सङ्गविवर्जितः'**से रागका, **'संतुष्टः'**से एकमात्र परमात्मामें ही संतुष्ट रहनेके फलस्वरूप द्वेषका अभाव और **'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः'**से हर्ष-शोकका

---

* सिद्धभक्तमें किसीको अपना न माननेसे अहंता-ममता आदि रहते नहीं। उसमें अवगुणोंका सर्वथा अभाव रहता है; कारण, गुण तो सभी दैवी सम्पदाके अन्तर्गत हैं, अतः वह उन्हें दैव (भगवान्के) मानता है तथा यावन्मात्र अवगुण संसारके साथ राग-द्वेषयुक्त सम्बन्ध माननेसे होते हैं और राग-द्वेषका सर्वथा अभाव भक्तमें स्वाभाविक ही होता है।

अभाव निरूपित किया गया है। यदि सिद्धभक्तोंके लक्षणोंका निरूपण करनेवाला सातों श्लोकोंका एक ही प्रकरण होता तो सिद्धभक्तमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंके अभावकी बातको कहीं शब्दोंसे और कहीं भावसे बार-बार कहनेकी आवश्यकता नहीं थी। तथा १४वें और १९वें श्लोकोंमें 'संतुष्टः' पदका भी सिद्ध-भक्तोंके लक्षणोंमें दो बार प्रयोग हुआ है, जिससे पुनरुक्तिका दोष आता है। भगवान्‌के वचनोंमें पुनरुक्तिका दोष आये, यह सम्भव ही नहीं। अतः सातों श्लोकोंके विषयको एक प्रकरण मानना उचित नहीं, बल्कि अलग-अलग प्रकरण मानना ही उचित है।

साधकोंमें साधन, स्वभाव और संस्कार आदिके कारण गुणोंका तारतम्य रहता है। किसीमें हर्ष, किसीमें राग, किसीमें भय, किसीमें अमर्ष आदि अवगुणोंका विशेषतासे प्रादुर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। भगवान्‌ने सिद्धभक्तके लक्षणोंका गुणोंके तारतम्यको लेकर पाँच प्रकरणोंमें विभाग किया। इस विभाजनका आशय ऐसा प्रतीत होता है कि साधकके अपनी रुचि, योग्यता एवं स्वभावके अनुसार सिद्धभक्तके जो लक्षण जिस प्रकरणमें मिलेंगे, उसी प्रकरणमें दिये हुए लक्षणोंके अनुसार सिद्ध बननेमें उसका तेजीके साथ उत्साह होगा।

भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषान् जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥

(पद्म०, उत्तर० । भागवतमाहात्म्य ४ । ७९-८०)

यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है। इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें और स्त्री-पुत्रादिको अपना कभी न मानें। इस संसारको रात-दिन क्षणभङ्गुर देखें, इसकी किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर उसमें राग न करें। बस, एकमात्र वैराग्य-रसके रसिक होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहें। भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है, निरन्तर उसीका आश्रय लिये रहें। अन्य सब प्रकारके लौकिक धर्मोंसे मुख मोड़ लें। सदा साधुजनोंकी सेवा करें। भोगोंकी लालसाको पास न फटकने दें तथा जल्दी-से-जल्दी दूसरोंके गुण-दोषोंका विचार करना छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और भगवान्‌की कथाओंका ही रस-पान करें।

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

किसी भी परिस्थितिमें घबराइये नहीं, अधिक-से-अधिक भजन कीजिये

जिस प्रकार अमावस्याके घने अन्धकारके पश्चात् ज्योत्स्नामयी शुक्लपक्षकी रातका श्रीगणेश होता है, वैसे ही कभी-कभी लीलामय भगवान् अपनी पूर्ण कृपासे प्लावित करनेसे पहले भयानक, अत्यन्त असह्य दुःखकी रात्रिमें अपने प्रिय भक्तको बिल्कुल अंधा-सा बना देते हैं। अवश्य ही मङ्गलमयका यह विधान भी, चाहे ऊपरसे देखनेमें कितना भी भीषण क्यों न हो, मङ्गलसे ओतप्रोत रहता है। इसीलिये विश्वासी भक्त किसी भी परिस्थितिमें चिन्तित न होकर अपने प्रियतम भगवान्की प्रत्यक्ष दयाका दर्शन करते हुए मुग्ध होते रहते हैं। जहाँतक आपके जीवनके सम्बन्धमें मैं सोचता हूँ तो यही मालूम पड़ता है कि दयामय भगवान् अबतक जितनी कृपालुतासे आपके जीवनको उन्नत बनाते आये हैं, उसके स्मरणमात्रसे ही आपको मुग्ध होते रहना चाहिये। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि किसी-न-किसी दिन इसी जीवनमें आप यह ठीक देख पायेंगे कि भगवान्की कृपालुता गुप्तरूपसे ही किस प्रकार आपके योगक्षेमका वहन करती आ रही है। सार-रूपमें इतना ही समझिये कि किसी भी परिस्थितिमें घबराइयेगा नहीं और मेरे इस कथनमें कि 'भगवान्ने आपलोगोंको अपनी ओर खींचा है और उनका खींचना सदा-सर्वदा सब ओरसे पूर्ण होता है, इसमें प्रमाणकी कमी भी दीखे तो भी जहाँतक हो सके, विश्वास करनेकी चेष्टा कीजियेगा।

अन्तिम बात यह है कि भजन अधिक-से-अधिक कीजियेगा। जगत्में सच्चे निःस्वार्थ मित्र केवल भगवान् ही हैं। × × × भगवान्के नामको नहीं भूलें, फिर भगवान् सब कुछ कर देंगे।

भगवान्पर विश्वास और नामजप हमारे लिये सब कुछ कर देगा

मुझे तो यही जान पड़ता है कि यदि मनुष्य अधिक-से-अधिक भगवन्नामपर विश्वास बढ़ाता चला जाय तो भगवान् उसे अपने-आप लक्ष्यतक पहुँचा देते हैं। यह केवल मेरी ही प्रतीति नहीं है, यह एक सिद्धान्त है और आजतक जितने बड़े-बड़े संत हो गये हैं, प्रायः सभीने इसका समर्थन किया है। श्रीभगवन्नामका वस्तु-गुण ऐसा है कि वह भगवान्में श्रद्धा उत्पन्न करा देता है। इतना ही नहीं, नामकी स्वाभाविक महिमा कितनी है, यह बतलाना बहुत कठिन है। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंकी अपेक्षा भी अत्यन्त उत्कृष्ट एवं पञ्चम पुरुषार्थ मानी जाती है। यह प्रेम श्रीभगवन्नाम सुलभ करा देता है। यह बात उन संतोंके द्वारा समर्थित की गयी है, जो भगवत्प्रेमको प्राप्तकर कृतार्थ हो चुके हैं। जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, वैसे-वैसे भगवन्नामपरायण व्यक्तिका स्वयं यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि भगवन्नामसे बढ़कर कोई दूसरा साधन नहीं है। इसलिये मैं प्रत्येक व्यक्तिसे नामजपके लिये प्रार्थना करता हूँ। देखें, भजनका फल कभी-कभी तुरंत देखनेमें नहीं आता; किंतु एक-न-एक दिन यह भगवन्नाम भगवान्को मिलाकर छोड़ेगा, यह बात ध्रुव सत्य है।

अस्तु, जहाँतक बने—चाहे जो भी भाव हो, सकाम-निष्काम कैसी भी वृत्तियाँ क्यों न हों—अधिक-से-अधिक नामजप करते रहें। 'विनय-पत्रिका'में एक पद है, जिसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ हैं—

सकल अंग पद-बिमुख, नाथ ! मुख नाम की ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक, प्रभु-मूरति कृपामई है॥

—ये गोस्वामी तुलसीदासजीके वचन हैं। ये मिथ्या हो नहीं सकते । बस, भगवान्पर विश्वास और नामजप हमारे लिये सब कुछ कर देगा, यह विश्वास करके भगवान् जैसे रखना चाहें, उसी परिस्थितिमें आनन्द मानते हुए जीवन बिताते चलें।

व्यावहारिक जगत्में भगवान्को साथ रखिये

भगवान्में विश्वासकी कमीके कारण, दूषित वातावरणका असर पड़नेके कारण एवं पूर्वके संस्कारोंके कारण बहुत बार हमलोगोंके मनमें परिवारको लेकर चिन्ताएँ आ सकती हैं। उस समय जगत्का महत्त्व भगवान्की अपेक्षा अधिक हो जाता है । वस्तुतः जागतिक चिन्ता तभी आती है, जब भगवान् गौण हो जाते हैं और जगत् प्रधान। इसलिये खूब सावधान रहना चाहिये कि एक क्षणके लिये भी भगवान् गौण नहीं होने पायें। आप विश्वास रक्खें कि जैसे-जैसे भगवान् मुख्य उद्देश्य होते जायँगे, वैसे-वैसे यह चिन्ता हटती जायगी। एक बात और है—साधनामार्गमें—खासकर भगवत्-शरणागतिमें किसी भी जागतिक चिन्ताको मनमें स्थान ही नहीं देना चाहिये। यदि हम भगवान्के हो गये, नहीं, सदैव ही भगवान्के थे, हैं और रहेंगे—तो हमसे सम्बद्ध यावन्मात्र पदार्थ भी भगवान्के ही हैं। क्या भगवान्को अपनी चीजोंका ध्यान नहीं है ? क्या हम उनसे ज्यादा चतुर एवं बुद्धिमान् हैं, जो उनकी अपेक्षा भी अधिक अच्छी तरह किसी चीजकी सँभाल करेंगे ? वस्तुतः सच्ची बात तो यह है कि जो दयामय भगवान्की ओरकी सँभाल है, वही सच्ची सँभाल है; हम तो मूर्खतावश सँभालनेके लिये जाकर बिगाड़ ही सकते हैं, किंतु भगवान्से कभी भूल होती नहीं। इसलिये जब कभी स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, मान, प्रतिष्ठा, इज्जत आदिको लेकर मन चिन्तित होने लगे, उस समय विचार करना चाहिये कि 'मैं तो प्रभुका हूँ; ये सब चीजें भी उन्हींकी हैं । सारे जगत्की सम्पूर्ण दया इकट्ठी करनेपर भी भगवान्की दयाकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है। वे भगवान् क्या हमारा अमङ्गल करेंगे ? कभी नहीं, इसमें ही हमारा मङ्गल है। हमारा सब कुछ उन्हींका है; वे अपनी चीजको जैसा रखना चाह रहे हैं, वही ठीक है। देखें, भगवान्की भक्ति केवल मानसिक प्रक्रिया ही नहीं है; यदि यह क्रियारूपमें न आयी तो भक्तिमें कमी है। यद्यपि आधुनिक जमानेमें यह कम देखनेको मिलता है, किंतु जितने भी ऊँचे-ऊँचे भक्त हुए हैं, सबने व्यावहारिक जगत्में भगवान्को साथ रखा है । गीताप्रेससे प्रकाशित भक्त-गाथाएँ पढ़िये। आप देखेंगे कि किस प्रकार भगवान्के विश्वासी भक्तोंने अपने-आप व्यावहारिक जीवनमें भगवान्की दयाका पद-पदपर अनुभव किया है। भक्त गिरिवर एवं भक्त प्रतापरायकी जीवनी पढ़कर मैं तो रोने लग जाता हूँ।

सारांश यह है कि जगत्की अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियोंको लेकर व्यस्त होनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्के प्रत्येक विधानको मङ्गलमय देखनेकी चेष्टा करें। यह बात माननेकी ही नहीं है, वस्तुतः ऐसी ही बात है। भगवान्का भयंकर विधान अनन्त आनन्दसे ओतप्रोत रहता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर मनुष्य बिल्कुल इसी प्रकार अनुभव करता है। समय-समयपर भक्त-गाथाओंको पढ़ते रहना चाहिये । वे कथाएँ कल्पना नहीं हैं, वास्तविक हुई घटनाएँ हैं। वे अन्तःकरणको पवित्र करेंगी, उनसे बहुत आत्मबल बढ़ेगा—यह मेरा अपना खास अनुभव है। मुझे इन भक्त-गाथाओंके पढ़नेसे अत्यधिक लाभ हुआ है।

अन्तिम बात यह है कि किसी भी परिस्थितिमें घबराइये नहीं। कृपामयको, आप जितनी कल्पना भी नहीं कर सकते, उससे अधिक आपका ध्यान है।

हम सुख-दुःखके भोगमें सर्वथा परतन्त्र हैं

मनुष्य कल्पनाके राज्यमें ही विचरा करता है, किंतु इस बातको भूल जाता है कि इस जागतिक कल्पनाका कोई मूल्य नहीं है। वह अगर थोड़ा भी ध्यान दे तो उसे पता लग सकता है कि सुख-दुःखके भोगमें वह सर्वथा परतन्त्र है। भले ही निमित्त कुछ बने, किंतु ये किसी अचिन्त्य-शक्तिके नियमनमें स्वयं आकर प्राप्त हो जाते हैं। भैया! यह समझना कठिन है, किंतु बिल्कुल ठीक है कि इसमें किसी प्रकारकी शङ्काकी गुंजाइश नहीं है। यह कानून है—

'जो कछु रचि राख्यौ नँदनन्दन मेटि सकै नहिं कोय।'

यदि आप यह समझ लें तो फिर आपको दुःख हो ही नहीं।

श्रीअरविन्द-शताब्दीके मङ्गल-संदर्भमें श्रीअरविन्द-वाणी

कर्मयोग

वेदान्त और योगको जीवनमें चरितार्थ करना 'कर्मयोग' है। बहुतोंको, जो हिंदूधर्मका ज्ञान विदेशियोंसे प्राप्त करते हैं, यह परिभाषा संदिग्ध प्रतीत हो सकती है। 'व्यावहारिक (बहिर्मुख)' मनवाले लोग साधारणतया यह मानते हैं कि वेदान्त जीवनके पथ-प्रदर्शकके तौरपर और योग आध्यात्मिक अन्तर्मिलनकी विधिके तौरपर ऐसी खतरनाक चीजें हैं, जो मनुष्योंको कर्मसे हटाकर निवृत्तिकी ओर ले जाती हैं। जो ऐसे सब विश्वासोंको रहस्यवाद, आत्मवञ्चन या ढोंग करके समझते हैं, उनकी तो हम चर्चा ही नहीं करते; परंतु जो लोग हिंदूधर्मकी ऊँची चीजोंका आदर करते हैं और उनमें विश्वास करते हैं, उनमें भी यह संस्कार बैठा हुआ है कि आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिये मनुष्यको सम्पूर्ण मानवीय चेष्टासे अपने आपको हटा लेना आवश्यक है। परंतु तो भी आध्यात्मिक जीवन अपने अधिक-से-अधिक शक्तिशाली रूपमें उसी पुरुषमें प्रकट होता है, जो मनुष्योंके सर्वसाधारण जीवनको योगके बलसे और वेदान्तके नियमके अनुसार बिताता है। आन्तरिक और बाह्य जीवनके इस प्रकारके मेलके फलस्वरूप ही मनुष्यजाति उन्नत होगी और शक्तिशाली तथा दिव्य बन जायगी। यह समझना भूल है कि वेदान्त जीवनके लिये कोई प्रेरणा प्रदान नहीं करता, आचार-व्यवहारका नियम नहीं बताता और शुद्धतया दार्शनिक तथा निवृत्तिपर है। इसके विपरीत उपनिषदों और गीताकी शिक्षाओंमें उस उच्चतम नैतिकताका, जहाँतक मानवजाति पहुँच सकती है, एक पूर्ण आधार और प्रमाण मिलता है। गीताके विशिष्ट सिद्धान्त और क्या हैं, यदि वे जीवनका नियम तथा धर्म नहीं हैं। वेदान्तकी परात्पर भगवान्‌के सम्बन्धमें अभीप्साएँ भी यह मानकर चलती हैं कि मनुष्य अपने जीवनमें उनके लिये आवश्यक तैयारी कर चुका है; क्योंकि जीवनमेंसे गुजर करके ही मनुष्य अमरताको प्राप्त कर सकता है। इससे विपरीत सम्मतिके प्रेरक कारण हैं वे विशेष प्रवृत्तियाँ, जो हमारी जातिके इतिहास और स्वभावमें बहुत अधिक बढ़ चुकी हैं। हमारे धर्मका चरम लक्ष्य है— भौतिक प्रकृतिके बन्धनसे मुक्ति और व्यक्तिका अपने पुनर्जन्मसे छुटकारा। जिन ऊँची-से-ऊँची आत्माओंको हम जानते हैं, उनमेंसे कुछको चरम नीरवता और पवित्रताके आकर्षणने ऐसा मोहित किया कि जिससे उन्होंने अपने आपको जीवन तथा शारीरिक कर्मसे अलग कर लिया, वे अधिक शीघ्रता और सुगमतासे अपने लक्ष्यपर पहुँच सके। पर्वतशिखरोंकी भाँति सामान्य सतहसे ऊपर खड़े होकर उन्होंने सबकी दृष्टिको अपनी ओर आकृष्ट किया और इस निवृत्तिको सर्वोच्च तथा सर्वप्रधान हिंदू आदर्शके रूपमें निश्चित कर दिया। इसी कारण श्रीकृष्णने इस बात-पर इतना बल दिया कि जब पूर्णयोगीको अपने लिये जीवन और मानव-कर्मकी आवश्यकता न रहे, तब भी उसे उनमें युक्त रहना चाहिये, जिससे ऐसा न हो कि लोग श्रेष्ठ पुरुषके आचरणका अनुकरण करते हुए, जैसे कि सदा ही वे किया करते हैं, अपने धर्मसे मुँह मोड़ लें और

वर्णसंकरकी अराजकता फैल जाय।* आदर्श योगी कोई निवृत्त या अवरुद्ध-शक्ति नहीं होता, किंतु वह सदा सब भूतोंका हित करनेमें रत रहता है—या तो उस दिव्य शक्तिके प्रवाहसे, जिसे वह संसारमें प्रवाहित करता है या फिर स्वयं ही मानवताकी अग्रपंक्तिमें खड़ा होकर प्रस्थान और युद्धमें इसका नेता बनकर, किंतु अपने कर्मोंसे बद्ध न होते हुए और अपने व्यक्तित्वसे ऊपर रहते हुए।

इसके अतिरिक्त साधारणतया 'वेदान्त' शब्दको तथा कट्टर अद्वैतवाद और मायाके उस विशिष्ट सिद्धान्तको, जिसे शंकरकी उच्च और वैराग्यपूर्ण बुद्धिने स्थापित किया था, एक ही समझ लिया जाता है। किंतु वेदान्तीके प्रामाणिक धर्मग्रन्थ तो स्वयं उपनिषदें ही हैं न कि शंकरके ग्रन्थ, मूलग्रन्थ ही हैं न कि भाष्य। शंकरका भाष्य यद्यपि महान् और सामयिक तौरपर संतोषप्रद था, तथापि वह उपनिषदोंका एक प्रकारका समन्वय और व्याख्यामात्र है। भूतकालमें अन्य भी समन्वय और व्याख्याएँ हुई हैं, जिन्होंने देशवासियोंके मनपर प्रबल प्रभाव डाला है और यह कोई नहीं कह सकता कि भविष्यमें और भी अधिक पूर्ण समन्वय नहीं होगा। इस प्रकारके एक समन्वयको ही, जो अपने क्षेत्रमें सम्पूर्ण जीवन और कर्मका आलिङ्गन करता है, श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्दकी शिक्षाएँ तैयार करती आ रही हैं। इस समय जो कुछ स्पष्ट तौरपर शुरू हो रहा है, वह उस चीजकी अधिक विस्तृत क्षेत्रमें पुनरावृत्ति है, जो भारतमें एक बार पहले, जब बुद्ध जीवित थे और आर्यजातियोंको दर्शन तथा आचारशास्त्र सिखाते थे, अधिक शीघ्रतासे, परंतु छोटे उद्देश्योंके लिये हुई थी। इस समयकी भाँति तब भी एक शक्तिशाली आत्मा मनुष्योंके बीच अवतरित हुई—इस बातका कुछ महत्त्व नहीं कि वह आत्मा अवतार था या विभूति, मनुष्यमें ईश्वरकी पूर्ण अभिव्यक्ति थी या दिव्यशक्तिका महान् प्रवाह, और उसने लोगोंके दैनिक जीवन और नित्य कर्मोंमें पूर्ण आध्यात्मिकताकी शक्ति और अन्तःप्रेरणा डाल दी।

वेदान्त और योग पहलेसे ही अपनी एशियाई सीमाको पार कर चुके हैं और अमरीका तथा यूरोपके जीवन तथा व्यवहारपर प्रभाव डालना शुरू कर रहे हैं, और वे बहुत समयसे सैकड़ों अप्रत्यक्ष प्रणालिकाओंमेंसे छन-छनकर पाश्चात्त्य विचारमें पहुँचते रहे हैं। परंतु ये छोटी नदियाँ और भूमिके नीचे छिपी हुई धाराएँ हैं। संसार दिव्य धाराको उसके अपने पूर्णरूपमें प्राप्त करनेके लिये भारतके अभ्युदयकी प्रतीक्षा कर रहा है।

योगका अर्थ है—ज्ञानके लिये, प्रेमके लिये या कर्मके लिये परमात्मासे अन्तर्मिलन। योगी उससे अपना साक्षात् सम्बन्ध जोड़ता है, जो मनुष्यके भीतर और उसके बाहर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। वह अनन्तसे अपना स्वर मिलाये रहता है, वह ईश्वरकी शक्तिके लिये प्रणालिका बन जाता है, जिससे वह शक्ति अपने आपको शान्त दया या सक्रिय परोपकारके द्वारा संसारमें प्रवाहित कर सके। जब मनुष्य अपनेपरसे स्वार्थी 'स्व'की केँचुली उतारकर ऊँचा उठता है और दूसरोंके लिये तथा दूसरोंके सुख-दुःखका साथी बनकर जीता है,—जब वह पूर्णतासे तथा प्रेम और उत्साहसे काम करता है, पर फलकी चिन्ता छोड़ देता है और न तो विजयके लिये उत्सुक रहता है न ही पराजयसे भयभीत होता है,—जब वह अपने सब कामोंको भगवान्के अर्पण कर देता है और प्रत्येक विचार, उच्चार और आचारको भगवान्की वेदीपर उत्सर्ग कर देता है,—जब वह भय और घृणा, द्वेष और ग्लानि तथा रागसे मुक्त हो जाता है और प्रकृतिकी शक्तियोंकी भाँति, उतावली न करते हुए, विश्राम न लेते हुए, अटल तौरपर तथा पूर्णतासे काम करता है,—जब वह इस विचारसे ऊँचा उठ जाता है कि वह शरीर या हृदय या मन है या इनका जोड़ है और अपने आपको तथा सच्ची आत्माको पा लेता है,—जब वह अपनी अमरता और मृत्युकी अवास्तविकतासे

---

* यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
(भगवद्गीता ३। २१-२६)

अभिज्ञ हो जाता है,—जब वह ज्ञानके उदयका अनुभव करता है और अपने आपको स्थितिशील अनुभव करता है तथा दिव्य शक्तिको अपने मन, अपनी वाणी, अपनी इन्द्रियों और अपने सब अङ्गोंद्वारा निर्बाध कार्य करते हुए अनुभव करता है,—वह जो कुछ स्वयं है और जो कुछ भी वह करता है या जो कुछ भी उसके पास है, उस सबको इस प्रकार सबके स्वामी, मनुष्य-जातिके प्रेमी और सहायक-पर उत्सर्ग करके जब वह उसमें स्थिररूपसे निवास करता है और दुःख, विक्षोभ तथा मिथ्या उत्तेजनसे चलायमान नहीं होता,—वह है 'योग'। प्राणायाम और आसन, एकाग्रता, पूजा, विधि-विधान, धार्मिक कर्तव्य—ये चीजें स्वयं योग नहीं हैं, परंतु योगके लिये केवल साधन हैं। योगका मार्ग कोई कठिन या भयानक मार्ग भी नहीं है। यह उन सबके लिये सुरक्षित और सुगम है, जो आन्तरिक पथप्रदर्शक और गुरुकी शरण ले लेते हैं। क्षमताकी दृष्टिसे सब लोग इसके योग्य हैं; क्योंकि ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जिसकी प्रकृतिमें शक्ति या विश्वास या प्रेम विकसित अथवा प्रसुप्त अवस्थामें विद्यमान न हो, और इनमेंसे कोई एक भी योगीके लिये पर्याप्त अवलम्बन है। निस्संदेह सब लोग एक जन्ममें इस मार्गमें सर्वोच्च शिखरपर नहीं पहुँच सकते, परंतु सब आगे बढ़ सकते हैं, और जितनी ही मनुष्य उन्नति करता है उतनी ही वह शान्ति, शक्ति और आनन्द पाता है। किंतु इस धर्मका थोड़ा-सा अंश भी मनुष्य या राष्ट्रका महान् भयसे त्राण करता है।

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥'

(गीता २ । ४०)

हम फिर कहते हैं कि यह सोचना गलती है कि आध्यात्मिकता एक ऐसी वस्तु है, जिसका जीवनसे कोई नाता नहीं। ईशोपनिषद्में कहा है, 'सब कुछ त्याग दो, जिससे तुम सब कुछका भोग कर सको। किसी मनुष्यके धनपर जी मत ललचाओ। परंतु अवश्य ही इस संसारमें अपने कर्म करो और अपनी सौ वर्षकी आयु जीनेकी इच्छा करो। अपने कर्मोंके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये तेरे सामने इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं खुला है।'* यह सोचना भूल है कि धर्मके शिखर इस संसारके संघर्षोंसे ऊपर हैं। श्रीकृष्णकी अर्जुनके प्रति बार-बार की गयी पुकार संघर्षपर जोर देती है,—'युद्ध कर और अपने शत्रुओंको परास्त कर दे।' 'मेरा स्मरण करता जा और लड़ता जा।' 'आध्यात्मिकतापूर्ण हृदयसे अपने सब कर्मोंको मेरे अर्पण कर दे और कामनासे रहित होकर, स्वार्थपूर्ण दावोंसे मुक्त होकर, युद्ध कर। अपनी आत्माके ज्वरको दूर कर दे।'† यह कल्पना करना भूल है कि चाहे धार्मिक आदमी अपने साधारण कर्मोंको न भी छोड़े, पर वह अत्यन्त सात्त्विक, अत्यन्त संत-स्वभाववाला, अत्यन्त प्रेमी या अत्यन्त वासनारहित हो जाता है, जिससे वह संसारके विषम कामके लायक नहीं रहता। इसपर गीताका जो उत्तर है, उसका भाव इससे ठीक विपरीत है और उससे अधिक अतिपूर्ण, समझौतेसे इन्कार करनेवाला उत्तर और कोई नहीं हो सकता—"जिसका स्वभाव 'अहं' से रहित हो गया है और जो अपनी आत्माको कर्मके संस्कारसे लिप्त नहीं होने देता, वह यदि सारे संसारका भी वध कर डाले तो भी वह वध नहीं करता और बन्धनमें नहीं आता।"‡ संहारके उस मैदानमें अर्जुनके रथको हाँकता हुआ कुरुक्षेत्रका सारथि कर्मयोगकी मूर्ति है और उसका ज्वलन्त वर्णन है; क्योंकि शरीर रथ है और इन्द्रियाँ हाँके जानेवाले घोड़े हैं और संसारके रक्तरञ्जित तथा पङ्कपूरित मार्गोंमेंसे ही श्रीकृष्ण मनुष्यकी आत्माको वैकुण्ठकी ओर ले जाते हैं।

('कर्मयोग' से)

---

* तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
(ईशोपनिषद् १-२)

† युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्। (गीता ११ । ३४)
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ॥ (गीता ८ । ७)
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ (गीता ३ । ३०)

‡ यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ (गीता १८ । १७)

धर्मके तीन आधारस्तम्भ

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ (छा० उ० २ । २३ । १)

धरम तीनि अस्कन्ध यग्य, अध्ययन, दान उत ।
दूसर तप अस्कन्ध, तीसरो ब्रह्मचर्ज-व्रत ॥
गुरुकुल में बसि छात्र ब्रह्मचारि-व्रत धारे ।
काया फूँ कस करे, चित्त-चंचलता मारे ॥
पुन्यलोक-भागी सबहिं, निज-निज धरमनि धारि कें ।
भोगनि तें उपरत रहैं, मदमाते मन मारि कें ॥

'धर्मके तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान, ये प्रथम स्कन्ध हैं, तप द्वितीय स्कन्ध है । ब्रह्मचारी, जो आचार्यकुलमें वास करता है, अपने शरीरको सेवा-तपस्या-द्वारा क्षीण कर देता है, यह तृतीय स्कन्ध है । ये समस्त पुण्यलोकके अधिकारी होते हैं । ब्रह्ममें संस्थित पुरुष अमृतत्वको प्राप्त करता है ।'

'धर्म' शब्द इतना व्यापक है कि इसकी यथार्थ रूपमें परिभाषा करना कठिन है । जैवधर्म, चौरधर्म, वेश्याधर्म—ये शब्द भी आते हैं । आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये 'जैवधर्म' हैं । चोरी कैसे करनी चाहिये, इसका वर्णन चौरशास्त्रमें है । वेश्या अपनी वृत्ति करते हुए भी स्वधर्मका पालन कैसे करे, यह 'वेश्याधर्म' है । कहीं-कहीं 'धर्म' शब्द 'वर्णाश्रम-विहित वृत्ति'के अर्थमें भी आता है । 'अपने धर्ममें स्थित रहना श्रेयस्कर है, पराया धर्म भयावह है'—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥'
(गीता ३ । ३५)

यहाँ 'धर्म' शब्द वर्णाश्रमधर्मविहित वृत्तिसे ही अभिप्रेत है । जब ब्राह्मणने धर्मव्याधसे कहा कि 'इतने ज्ञानी होकर भी जो आप मांस बेचनेका व्यवसाय करते हैं, यह उचित नहीं । इस निन्दित व्यवसायको आपको छोड़ देना चाहिये' तब धर्मव्याधने कहा—'देखिये, यह मेरा वंश-परम्पराका धर्म है, इसे मैं छोड़ नहीं सकता । मैं स्वयं जीवोंकी हिंसा नहीं करता, मैं स्वयं मांस नहीं खाता । मैं मांस लाकर बेचता हूँ । यह मेरी कुलगत वृत्ति है । अपना धर्म यदि सदोष भी हो, तो उसे छोड़ना नहीं चाहिये; क्योंकि कोई भी कर्म निर्दोष नहीं है । जैसे धूएँसे अग्नि आवृत रहती है ।'

यहाँ 'धर्म' वंश-परम्परासे चली आयी वृत्तिके अर्थमें व्यवहृत हुआ है । ये सब कर्तव्य भी धर्म हैं, किंतु वास्तवमें जिसके पालनके लिये अत्यन्त बल दिया है, वह प्रेरणा-लक्षणरूप ही 'धर्म' है । ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं करना चाहिये—जिससे यह ज्ञात हो वही 'धर्म' है । वह जैवधर्मसे ऊपरका धर्म है । आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये तो सभी जीवोंमें, पशु-पक्षियोंमें और मनुष्यमें समान ही हैं । इन कार्योंमें तो सभी जीव समानधर्मी हैं, किंतु मनुष्यमें 'धर्म' ही अधिक है । धर्मसे जो हीन है, वह पशुतुल्य है । यहाँ 'धर्म' शब्द उस धर्मको बताता है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् (मोक्ष)की प्राप्ति हो सके । हम कोई धर्म-विरुद्ध कार्य तो नहीं कर रहे हैं, इसे सर्वदा ध्यानमें रखें । इसमें कभी प्रमाद न करें । जिन बातोंपर सदा दृष्टि रखे, वह धर्म क्या है ? इसके लिये स्मृतियोंमें धर्मकी एक बहुत संक्षिप्त, किंतु अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण व्यवस्था की है । आजकल 'धर्म' शब्दका अर्थ बहुत ही संकुचित लिया जाता है—ईसाईधर्म, मुसलिमधर्म, यहूदीधर्म, पारसीधर्म, हिंदूधर्म और उसका अर्थ है—इस वर्गके लोग जैसी उपासना करते हों, जैसे बाह्य चिह्न रखते हों, जैसी दीक्षा लेते हों, वे बातें । किंतु यह धर्मका अत्यन्त संकुचित अर्थ है । ईसाई, मुसलमान, हिंदू, यहूदी, सभीका धर्म एक ही है । जिन्हें आज 'धर्म' कहा जाता है, वे तो रीति, रिवाज, पद्धति तथा बाह्य चिह्नमात्र हैं । बाह्य चिह्न धर्ममें विशेष कारण नहीं माने गये हैं । (न लिङ्गं धर्मकारणम्) । तब धर्म क्या है ? इसका मनु महाराज उत्तर देते हैं—१—धीरता (धृति), २—क्षमा, ३—मनका निरोध करना, ४—चोरी न करना, ५—शौच (भीतर-बाहरकी पवित्रता), ६—इन्द्रियोंका निग्रह करना, ७—बुद्धिको विकसित बनाना, ८—जिससे मुक्तितक पहुँच सकें, उस विद्याका अर्जन करना, ९—सत्यभाषण और १०—क्रोध न करना—ये दस धर्मके लक्षण हैं । अब बताइये, इसमें सदाचारकी कौन-सी बात रह गयी । किसी भी वर्गके, किसी भी सम्प्रदाय—मजहब (religion) के लोग इनमेंसे किसी एक बातका खण्डन कर सकते हैं ? धर्मका यह कैसा व्यापक—विस्तृत—अर्थ है । ऐसा धर्म ही समस्त संसारकी सम्प्रतिष्ठा है । ऐसे ही धर्मात्मा पुरुषके समीप—फिर वह किसी देश, किसी जाति, किसी वर्ग

तथा कैसी भी उपासना करनेवाला हो, उसीके समीप सब लोग जाते हैं, उसी धर्मात्मा पुरुषका आदर करते हैं। ऐसे ही धर्मसे मनुष्य अपने पूर्वकृत पापोंको दूर करते हैं तथा पापकर्मोंसे बचते हैं। ऐसे व्यापक धर्ममें ही सर्वधर्म प्रतिष्ठित हैं, ऐसे ही धर्मको लोग सर्वश्रेष्ठ धर्म कहते हैं।

जो पुरुष सुख-दुःखमें धैर्य धारण करता है, जो अपराध करनेवालेको भी सच्चे हृदयसे क्षमा कर देता है, जो चित्तकी बिखरी वृत्तियोंको रोककर धर्मकार्योंमें या परमात्मामें लगाता है, जो कभी किसीके धनको अन्यायसे लेनेकी कभी मनसे भी इच्छा नहीं रखता, जो भीतर-बाहरसे पवित्र-शुचि रहता है, जो विषयाभिमुखी इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर उन्हें सत्पथमें प्रवृत्त करता रहता है, जो अपनी बुद्धिको सदा विशुद्ध बनाये रखता है, बुद्धिमें कभी मलिनता नहीं आने देता, लोभके वशीभूत होकर कभी सत्पथसे विचलित नहीं होता, जो विद्याभ्यासमें सदा लगा रहता है, जो सदा सत्यभाषण करता है, सम्पूर्ण व्यवहारमें भी सत्यका आचरण करता है, उसे जो क्रोधका प्रसङ्ग आनेपर भी क्रोध नहीं करता, वास्तवमें वही धार्मिक है; उसीने धर्मका यथार्थ मर्म समझा है। नहीं तो धर्मके नामपर जो आज हो रहा है, उसे अधर्म न कहें तो फिर दम्भ, पाखण्ड, अधर्म और अन्याय क्या है ? जो दस लक्षणवाला धर्म बताया गया है, उसे जो छोड़ देता है, धर्म भी उसे छोड़ देता है। जो इस दस लक्षणवाले धर्मकी रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता रहता है। ऐसे महान् धर्मका कभी भूलसे भी लोभ-लालचमें पड़कर त्याग नहीं करना चाहिये।

वास्तवमें तो हम सब धर्मके ही सहारे जी रहे हैं। यदि सभी प्राणी इस दस लक्षणवाले धर्मको छोड़कर अधीर हो जायँ, एक-दूसरेसे सदा बदला ही लेते रहें, मनको स्वच्छन्द छोड़ दें, मनमें जो आये, उसे ही करने लगें, दूसरोंके धनको जिस प्रकार भी हथियानेका प्रयत्न करते रहें, सदा अपवित्र बने रहें, इन्द्रियोंको स्वच्छन्द विचरण करने दें, बुद्धिको विपरीत पथपर चलने दें, विद्याध्ययन न करें, सदा असत्य ही भाषण करते रहें, कोई हमारा तनिक भी अपराध कर दे तो उसके ऊपर कुपित होकर उसे गाली दें, मार दें—यदि सब लोग ऐसे अधर्मका आचरण करने लगें तो धर्म हमें नष्ट कर देगा। धर्मसे हमारी यही प्रार्थना है कि हम धर्मको त्यागें नहीं और धर्म भी हमें न त्यागे, हमसे प्रेम करे, हमारा वध न करे।

वास्तवमें देखा जाय तो संसारी लोग जो झूठा प्रेम प्रदर्शित करते हैं, हमारे प्रति मैत्रीभाव दिखाते हैं, यह सब असत्य है। आहार-निद्रा-भय-मैथुनमें निरत यह क्षुद्र प्राणी तो विषयोंमें ही आसक्त रहता है। जिसे विषयोंसे प्रेम है, वह दूसरोंसे मित्रता कैसे निभा सकता है। दूसरोंके प्रति मित्रता प्रदर्शित करे भी तो वह स्वार्थजनित मित्रता है। जो विषयोंकी प्राप्तिके निमित्त दूसरोंके प्रति मिथ्या मैत्रीभाव दिखाता है, जो विषयोंका दास है, वह वास्तविक मित्र नहीं। यथार्थ मित्र तो धर्म ही है। ये संसारी मित्र तो स्वार्थ सिद्ध न होनेपर मैत्रीभाव छोड़ देते हैं। बहुतसे लोग जीवनपर्यन्त मैत्री निभाते हैं, किंतु मरनेपर तो वे भी छोड़ देते हैं। किंतु धर्म मरनेके पश्चात् भी मैत्री नहीं छोड़ता, वहाँ भी वह अभीष्ट फल देता रहता है। अतः सदा-सर्वदा धर्मका ही आचरण करे। धर्मसे ही मैत्री करे। कैसी भी विपत्ति आ जाय, धर्मका परित्याग न करे। अपने धर्मकी दृढ़ताके साथ रक्षा करे। जो धर्मकी दृढ़तासे रक्षा करता है, धर्म भी ऐसे धर्मात्मा पुरुषकी सदा रक्षा करता रहता है। भगवती श्रुति उसी धर्मके तीन स्कन्ध—तीन विभागोंका वर्णन करती है। ये तीन ही धर्मके आधारस्तम्भ हैं। इन तीनके सहारे ही धर्म टिका हुआ है। जो धर्मका आश्रय लेकर वर्तते हैं—व्यवहार करते हैं, उन्हें त्रिवर्गकी प्राप्तिके अनन्तर अन्तमें चौथे वर्गकी—मोक्षकी—अमृतत्वकी प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अब धर्म किन खंभोंके सहारे खड़ा है, इसका वर्णन करते हैं।'

शौनकजीने कहा—सूतजी! प्रकरण तो यहाँ उपासनाका था, बीचमें धर्मकी बात कैसे आ गयी ?

सूतजीने कहा—ब्रह्मन्! अबतक तो सब सकाम उपासनाएँ बतायीं। इन उपासनाओंसे संतान, पशु, धन-धान्य तथा स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है। अब आगे इन्हें मोक्षकी साधनभूता ओंकारकी उपासनाको कहना है। धर्मभावनाविहीन अधार्मिक पुरुष मोक्षका साधन कर ही नहीं सकता। एकमात्र धर्म ही ऐसा है, जिससे अर्थ, काम तथा मोक्षकी भी प्राप्ति

हो सकती है। मोक्षकी प्राप्ति ओंकारोपासनासे ही सम्भव है। अतः उसके साधनभूत धर्मका स्वरूप बताकर तब आगे ओंकारकी उपासना कहेंगे। हाँ, तो धर्मके तीन ही आधारस्तम्भ हैं।

शौनकजीने पूछा—वे तीन आधारस्तम्भ कौन-कौन-से हैं ?

सूतजीने कहा—'यज्ञ, अध्ययन और दान—ये तीन तो पहला स्कन्ध हैं, तप दूसरा स्कन्ध है और ब्रह्मचर्यव्रत तीसरा स्कन्ध—विभाग है।

शौनकजीने पूछा—क्या इन तीनोंसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ?

सूतजीने कहा—धर्मसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। धर्मसे तो स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी ही प्राप्ति सम्भव है। हाँ, धर्माचरणसे मोक्षका मार्ग परिष्कृत हो जाता है। धर्मसे त्यागका महत्त्व जाना जाता है, त्यागसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानसे मोक्ष मिलता है। धर्म मोक्षमें प्रत्यक्ष कारण नहीं, परम्परया कारण है। अतः धर्माचरण करके अन्तःकरणको विशुद्ध बनाना चाहिये।

शौनकजीने पूछा—आपने धर्मके तीन स्कन्ध–विभाग बताये। इनमें पहले स्कन्धमें यज्ञ, अध्ययन और दान—इन तीनको बताया। इनमेंसे यज्ञका स्वरूप बताइये।

सूतजीने कहा—ब्रह्मन् ! आप सब जानते हैं। अग्निमें हवि दी जाय, जिसमें देवताओंको हविर्भाग दिया जाय, उसीका नाम 'यज्ञ' है। वैसे तो जितने भी शुभ कर्म हैं, सबकी 'यज्ञ' संज्ञा है। जैसे—द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, आरम्भयज्ञ, हविर्यज्ञ, जपयज्ञ, परिचर्यायज्ञ, दानयज्ञ—सभीकी 'यज्ञ' संज्ञा है। किंतु यहाँ 'यज्ञ' शब्दसे अग्निमें देवताओंके निमित्त आहुति देनेसे ही तात्पर्य है। द्विज गृहस्थके लिये नित्य अग्निहोत्र आदि पञ्चयज्ञ परमावश्यक बताये हैं। उनसे ही यहाँ तात्पर्य है।

शौनकजीने पूछा—अध्ययन क्या है ?

सूतजीने कहा—गुरुमुखसे ग्रन्थके आनुपूर्वी श्रवणका नाम 'अध्ययन' है। जैसे गृहस्थका यज्ञ करना परमधर्म है, वैसे ही ब्रह्मचारीका गुरुकुलमें जाकर अध्ययन करना परमधर्म है। विद्यार्थियोंके लिये अध्ययन ही परम तप बताया गया है। अध्ययनके विना धर्मका ज्ञान नहीं होता। विना अध्ययन किये जो व्यवसायोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं, वे प्रायः अधर्म ही करते हैं। इसलिये धर्मज्ञानके लिये अध्ययन परम आवश्यक है।

शौनकजीने पूछा—दान क्या है ?

सूतजीने कहा—किसी वस्तुमेंसे अपनापन त्यागकर उसे सत्पात्रको प्रदान करनेका नाम 'दान' है। वह दान चार प्रकारका होता है—१–नित्यदान, २–नैमित्तिक दान, ३–काम्यदान और ४–विमल दान। नित्यदान तो अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार नियमितरूपसे अन्नादि वस्तुओंको देते रहना है। देते समय यह भेदभाव न करे कि इससे हमारा कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होगा। सत्पात्र याचकको दे। अन्नके लिये जिसके पेट हो, भूखा हो, वे सभी पात्र ही हैं। दूसरा नैमित्तिक दान है। अमावस्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, व्यतीपात आदि पर्वोंके आनेपर जो दान दिये जायँ, अथवा पुण्यक्षेत्रोंके निमित्तसे तीर्थयात्रा-प्रसङ्गमें दिये जायँ या पापोंके प्रायश्चित्त-रूपमें ग्रहोंकी शान्ति आदिके निमित्त जो दान दिये जाते हैं, वे 'नैमित्तिक दान' हैं।

तीसरा दान 'काम्य-दान' है। संतानकी कामनासे, विजयकी कामनासे, ऐश्वर्यकी कामनासे अथवा स्वर्गकी कामनासे जो दान दिये जाते हैं, वे 'काम्यदान' कहलाते हैं।

चौथा दान 'विमल दान' है। जो किसी निमित्तसे नहीं, किसी कामनासे नहीं, केवल ईश्वरप्रीत्यर्थ ब्रह्मवेत्ताको निष्कामभावसे—सात्त्विक वृत्तिसे भक्तिपूर्वक दिया जाय, वह 'विमल दान' है। नित्य, नैमित्तिक और काम्यदान तो पुण्यलोकोंको प्रदान करते हैं, विमल दान मुक्तिका कारण है। इस प्रकार यज्ञ, अध्ययन और दान—ये धर्मके प्रथम स्कन्ध हैं। धर्मका दूसरा स्कन्ध है—तप।

शौनकजीने कहा—'तप'का तात्पर्य क्या है ?

सूतजीने कहा—'तप' शब्द 'तप्' धातुसे बना है, जो उप-संताप अर्थमें प्रयुक्त होता है। शरीरको जो शास्त्रीय विधिके अनुसार तपाया जाय, या जिस क्रियासे शरीर तपे, उसे 'तप' या 'तपस्या' कहते हैं (तपति अथवा तापयति—इति तपः) क्लेशजनक विधिविहित कर्म। तपसे ऐसा कौन-सा कार्य है, जो सिद्ध न हो सकता हो। तपसे पापोंका नाश, यश, ज्ञान, विज्ञान, सौभाग्य, रूप तथा स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है। अतः 'तप' धर्मका दूसरा स्कन्ध है। धर्मका तीसरा स्कन्ध है—ब्रह्मचर्यका पालन। ब्रह्मचर्यव्रतका विधिवत्

आजीवन पालन करनेवाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपने आचार्यके कुलमें वास करके व्रत, उपवास तथा सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा अपने शरीरको सुखा देता है—अत्यन्त क्षीण कर देता है। यह नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धर्मका तीसरा स्कन्ध है। यश, श्री तथा पुण्यलोकोंकी प्राप्ति धर्मके इन तीनों स्कन्धोंद्वारा ही हो सकती है। जो ब्रह्ममें सब प्रकारसे स्थित हो चुका है, ऐसा स्थितप्रज्ञ पुरुष ही अमृतत्व अर्थात् मोक्षको प्राप्त कर सकता है। संसारके जितने भी कार्य हैं, सब तपसे ही होते हैं। ब्रह्माजीने तपद्वारा ही इस सृष्टिको उत्पन्न किया है।

शौनकजीने पूछा—तपद्वारा जगत्को ब्रह्माजीने कैसे रचा ?

सूतजीने कहा—कमलपर बैठे ब्रह्माजीको सृष्टिके आदिमें 'त' और 'प'—ये ही दो शब्द सुनायी दिये। अतः उन्होंने सहस्रों वर्षपर्यन्त तप किया, ध्यान किया। उसी तपके प्रभावसे यह सृष्टि उत्पन्न हुई।

जग्य, दान, अध्ययन, तपस्या, ब्रह्मचर्ज-व्रत।
पुन्यलोक पहुँचाइ देत, जो करै जथावत॥
ब्रह्म माहिं थित होइ अमृत वह मानव पावै।
सब द्वंदनि निरमुक्त, मुक्त जग तें है जावै॥
करी तपस्या प्रजापति, ध्यान धरयो लोकनि निमित।
भए लोक अभितप्त तिनि, त्रयि-बिद्या उतपत्ति इत॥

चेतावनी

ग्रीव-लुचा-कटि है लटकी, कचऊ पलटे, अजहूँ रत बामी।
दंत गए मुख के उखरे, नख-नैन गए सु खरौ खर कामी॥
कंपति देह, सनेह सु दंपति, संपति जंपति है निसि जामी।
'सुंदर' अंतहु भौन तज्यौ, न भज्यौ भगवंत सु लौन-हरामी॥

कौन कुबुद्धि भई घट अंतर, तूँ अपने प्रभु सौं मन चोरै।
भूलि गयौ बिषया-सुख मैं सठ, लालच लागि रह्यौ अति थोरै॥
ज्यौं कोउ कंचन छार मिलावत, लै करि पत्थर सौं नग फोरै।
'सुंदर' या नरदेह अमोलिक, तीर लगी नवका कत बोरै॥

देह-सनेह न छाड़त है नर, जानत है सठ, है थिर देहा।
छीजत जाइ, घटै दिन-हीं-दिन, दीसत है घट कौ नित छेहा॥
काल अचानक आइ गहै कर, ढाहि गिराइ करै तनु खेहा।
'सुंदर' जानि यहै निहचै धरि, एक निरंजन सौं कर नेहा॥

तूँ कछु और बिचारत है नर, तेरौ बिचार धरयौइ रहैगो।
कोटि उपाय करै धन कै हित, भाग लिख्यौ, तितनौइ लहैगौ॥
भोर कि साँझ, घरी-पल माँझ, सु काल अचानक आइ गहैगौ।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत, 'सुंदर' यौं पछताइ कहैगौ॥

सोइ रह्यौ कहा गाफिल ह्वै करि, तो सिर ऊपर काल दहारै।
धामस-धूमस लागि रह्यौ सठ, आइ अचानक तोहि पछारै॥
ज्यौं बन मैं मृग कूदत-फाँदत, चित्रक लै नख सूँ उर फारै।
'सुंदर' काल डरै जिहिं कै डर, ता प्रभु कौं, कहि, क्यौं न सँभारै॥

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी

[नाटक]

[लेखक—डा० (सेठ) श्रीगोविन्ददासजी]

नाटकके मुख्य पात्र

(नाटकमें प्रवेशके अनुसार)

(१) गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी—नाटकके नायक।

(२) दामोदरदास हर्षानी—श्रीवल्लभाचार्यके प्रमुख शिष्य, जिन्हें देहावसानके समय श्रीवल्लभाचार्य अपने दोनों पुत्रों (श्रीगोपीनाथ और श्रीविट्ठलनाथ) को सौंप गये थे।

(३) गिरिधर—श्रीविट्ठलनाथके बड़े पुत्र।

(४) कृष्णदास—श्रीनाथजीके मन्दिरके अधिकारी और अष्टछापके गायक कवियोंमेंसे एक।

(५) सम्राट् अकबर

(६) राना वीरबल

(७) महारानी दुर्गावती

(८) श्रीगोवर्धननाथजीका स्वरूप

(९) सूरदास—ब्रजभाषाके महाकवि (श्रीवल्लभाचार्यजीके शिष्य)।

कुछ नागरिक, संगीत-सम्मेलनके गायक और कवि आदि। गायकोंमें अष्टछापके कवि और तानसेन हैं। कवियोंमें रहीम, रसखान आदि हैं।

प्रमुख स्थान

गोकुल, जतीपुरा, चन्द्रशेखर, फतहपुर सीकरी, गढ़ा (म० प्र०); मथुराका विश्रामघाट, गोकुलका ठकुरानीघाट, जतीपुरामें गोवर्धनकी कन्दरा आदि।

उपक्रम

स्थान—गोकुलमें विट्ठलनाथजीके छोटे-से, किंतु पक्के और साफ-सुथरे घरका एक छोटा-सा कक्ष।

समय—उषःकाल।

[कक्षकी तीन ओरकी दीवारें दिखती हैं। दीवारें स्वच्छ छुईसे पुती हुई हैं। पीछेकी दीवारमें कोई दरवाजा या खिड़की नहीं है। दाहिनी ओर बाँयीं दीवारके सिरोंपर छोटे-छोटे दो दरवाजे हैं, जिनकी चौखट और चौखटके पल्ले सोलहवीं सदीकी चौखटों और पल्लोंके समान देहाती ढंगके काठके हैं, जिनमें कोई कलात्मक वस्तु नहीं है, पर जो तेल-पानीसे स्वच्छ रखे गये हैं। कक्षकी छतपर कपड़ा तना हुआ है, जो छुईकी पुताईसे सफेद है। इस छतसे उस कालकी काँचकी कुछ हँडियाँ और गोले लटक रहे हैं। कक्षकी भूमि गोबरसे स्वच्छ लिपी हुई है। पीछेकी दीवारसे सटी हुई एक गद्दी बिछी है, जो सफेद चादरसे ढकी हुई है। गद्दीपर पीछेकी ओर दो गोल मसनद लगे हुए हैं। इनपर स्वच्छ-सफेद खोली चढ़ी हुई है। एक मसनदसे टिके हुए विट्ठलनाथजी विराजे हुए हैं। दूसरी मसनदसे टिके हुए दामोदरदासजी हर्षानी बैठे हुए हैं। विट्ठलनाथजी युवक हैं। रंग गोरा, शरीर ऊँचा, पूरा भरा हुआ, मुख अत्यन्त सुन्दर। वे नीचेके शरीरपर एक सफेद धोती पहने हुए हैं। ऊपरके शरीरपर सफेद ही उपरना (उत्तरीय) है। कोई आभूषण धारण नहीं कर रखा है। हर्षानीजी ढलती हुई वयके हैं। रंग उनका भी गोरा है और शरीर हृष्ट-पुष्ट। ढलती हुई अवस्थामें भी वे सुन्दर दीख पड़ते हैं। वे भी धोती-उपरना ही पहने हुए हैं। दोनोंके सिरके केश लंबे हैं और पीछेकी ओर शिखासहित एक प्रकारका जूड़ा बँधा हुआ है। दोनोंकी छोटी-छोटी मूँछें हैं। विट्ठलनाथजीके केश काले और हर्षानीजीके मिश्रित हैं। दोनोंके ललाटपर वल्लभ-सम्प्रदायका लाल रोलीका तिलक और पीले चंदनके छापे हैं।]

विट्ठलनाथ—हर्षानीजी! पिताजीको लीलामें पधारे वर्षों बीत गये। आज उनका जन्मोत्सव है और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली कितनी बातें एवं घटनाएँ मुझे स्मरण आ रही हैं।

हर्षानी—स्वाभाविक है, जय! जिस समय वे लीलामें पधारे, उस समय आप तो केवल बारह वर्षके अल्पवयस्क थे। आपको जब आज उनसे सम्बन्धित इतनी बातें और घटनाएँ स्मरण आ रही हैं, तब मुझे कितनी स्मरण आती होंगी, इसका आप अनुमान कर सकते हैं; क्योंकि मेरे

जीवनका तो बहुत बड़ा भाग उन्हींके चरणोंमें व्यतीत हुआ है और जिस समय वे लीलामें पधारे, उस समय मैं आपके समान अल्पवयस्क नहीं था।

विट्ठलनाथ—फिर कितनी कृपा थी उनकी आपपर!

हर्षानी—हाँ, मेरे वैश्य होते हुए भी उन्होंने सबसे पहले ब्रह्म-सम्बन्ध-मन्त्रकी दीक्षा मुझे दी।

विट्ठलनाथ—और कहा नहीं करते थे कि इस सम्प्रदायको उन्होंने आपके लिये प्रकट किया है?

हर्षानी—मेरा नाम ही उन्होंने 'दमला' रख दिया था। कितने प्रेमसे मधुर स्वरमें वे मुझे पुकारते थे। उनकी वह ध्वनि आज भी मेरे कानोंमें गूँजती रहती है।

विट्ठलनाथ—और कितना भरोसा तथा विश्वास था उनका आपपर!

हर्षानी—इसमें भी कोई संदेह हो सकता है कृपानाथ! आपके अग्रज गोपीनाथजीको और आपको उन्होंने मेरे सुपुर्द कर दिया था।

विट्ठलनाथ—आपके वैश्य और वैष्णव होते हुए भी गुरु 'गादी'का भी आधा अधिकार आपको दे गये हैं! शिष्य होते हुए भी गुरुके साथ इस प्रकार आधी गादीपर बैठनेका किसीको न आज अधिकार है और न भविष्यमें होगा।

(कुछ देर निस्तब्धता)

विट्ठलनाथ—इस युगमें कितना कार्य किया है उन्होंने!

हर्षानी—इसी युगमें क्यों, इस धर्मप्राण भारतीय संस्कृतिका हजारों वर्षोंका इतिहास देख लीजिये। किसने इतना कार्य किया है?

विट्ठलनाथ—हाँ, पचासी ग्रन्थोंका प्रणयन, जिसमें ब्रह्मसूत्रोंपर अणुभाष्यके सदृश भाष्य और श्रीमद्भागवतपर सुबोधिनीके सदृश टीका। 'तत्त्वार्थदीप' नामक निबन्ध, 'पत्रावलम्बन' और षोडश ग्रन्थोंके सदृश विविध प्रकारके ग्रन्थ।

हर्षानी—आपके पिताश्रीतक 'प्रस्थानत्रयी' नामसे विख्यात उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीताके इन तीन ग्रन्थोंपर भाष्य लिखनेवाले आचार्यपदको प्राप्त करते थे। उन्होंने इन तीनके साथ श्रीमद्भागवतको और जोड़ा।

विट्ठलनाथ—हाँ, हमारे दर्शनको साङ्गोपाङ्ग करनेके लिये यह आवश्यक था।

हर्षानी—और उनके ग्रन्थोंमें जो अधूरापन है, उसे आप पूरा कर रहे हैं।

विट्ठलनाथ—हर्षानीजी! मैं साहित्यको सर्वोपरि वस्तु मानता हूँ। भारतका ही नहीं, संसारका आदि ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है। आज यदि ऋग्वेद और उसके पश्चात्का साहित्य उपलब्ध न होता तो यह धर्मप्राण भारतीय संस्कृति कितनी पुरानी है, इसका पता ही न लग सकता था। इस साहित्यने हजारों वर्षोंसे जन-समुदायको प्रेरणा दी है, आज भी दे रहा है और भविष्यमें न जाने कबतक देता रहेगा।

हर्षानी—फिर, उन्होंने केवल साहित्यका निर्माण किया हो, यह बात भी नहीं है। वे जितने बड़े विचारक थे, उतने ही कर्मठ भी।

विट्ठलनाथ—हाँ, उन्होंने तीन-तीन बार भारतकी पाँव-प्यादे परिक्रमा की, जिसमें उन्होंने अपने सारे सिद्धान्तोंको जन-समुदायको समझाया और उससे जो प्रेरणा लोगोंको प्राप्त हुई है, वह आज प्रत्यक्ष दिखायी देती है।

हर्षानी—इन परिक्रमाओंमें उन्होंने जीवनके इकतीस वर्ष लगाये और उनमें श्रीमद्भागवतके कितने सप्ताह किये।

विट्ठलनाथ—हाँ, पूर्वसे पश्चिम और उत्तरसे दक्षिणतक समस्त देशमें जहाँ-जहाँ ये भागवत-सप्ताह हुए, वहाँ-वहाँ उनकी बैठकोंकी स्थापना हुई, जिनकी संख्या चौरासीतक पहुँच गयी।

हर्षानी—फिर सर्वोपरि कोई एक विशिष्ट स्थान और विशिष्ट देवकी भी आवश्यकता होती है, यह भी उन्होंने स्मरण रखा था।

विट्ठलनाथ—हाँ, वे कृष्णोपासक थे, अतः उन्होंने कृष्णकी प्रधान लीलाभूमि व्रजको स्थानके रूपमें चुना और श्रीनाथजीको अपना प्रधान उपास्यदेव बनाया।

हर्षानी—श्रीनाथजीका प्राकट्य ही उनकी जन्मतिथिको गोवर्धनपर हुआ था। वही तिथि आज है।

(कुछ देर निस्तब्धता)

विट्ठलनाथ—हर्षानीजी! पिताश्रीके समयकी और उस समयको बहुत अधिक काल व्यतीत न होनेपर भी आजकी परिस्थिति उससे भिन्न हो गयी है, ऐसा मुझे आभास होता है। सिकन्दर लोदीके शासनकालतक मार-काटका युग था। पठानोंका राज्य समाप्त होनेपर और मुगलोंका आधिपत्य जमनेपर अकबरके इस शासनकालमें अल्प समयमें ही शासन व्यवस्थित हो गया है।

हर्षानी—हाँ, कृपानाथ ! यह तो जीवनके सभी क्षेत्रोंमें दृष्टिगोचर होने लगा है ।

विट्ठलनाथ—यह भी कितने थोड़े समयमें ! (कुछ रुककर) मुगल सम्राट्‌के वैभवने जनसमुदायको मुगल दरबारके प्रति जिस प्रकार आकर्षित किया है, वह स्पष्ट दिखायी देता है ।

हर्षानी—सर्वथा ।

विट्ठलनाथ—देखिये, हर्षानीजी ! इस सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव है । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' हमारे सम्प्रदायका मूल सिद्धान्त रहा है । हम शुद्धाद्वैतब्रह्मवादी यथार्थमें अद्वैतको ही माननेवाले हैं । हमारा यह मत है कि ब्रह्ममें इच्छा हुई लीला करनेकी, अथवा उसका यह स्वभाव ही है, एकसे अनेक हो जाना । लीला तो इसके बिना चल ही नहीं सकती । अतः जो ब्रह्म एकाकी था, उसने अपनेको अनन्त प्रकारकी जड-जंगम सृष्टिमें परिणत कर दिया और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार जो कुछ हमें दिखता है या हमारी दृष्टिके परे है, वह सब ब्रह्म ही है । यह मानते हुए भी इस समस्त सृष्टिमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है, इसे भी हम मानते हैं । मनुष्यकी आत्मा जो ब्रह्म है, वह अन्नमय आदि पाँच कोशोंसे आच्छादित है । इन्हीं कोशोंसे उसे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—यह चतुर्विध मानसशक्ति प्राप्त हुई है और उस शक्तिद्वारा सब कुछ अच्छा-बुरा भोगनेके लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ ।

मानव-जीवनका सच्चा उद्देश्य तो भगवत्प्राप्ति ही है; परंतु जबतक इस भौतिक शरीरमें उसकी स्थिति है, तबतक इन्द्रियोंके द्वारा वह भौतिक सुखोंको प्राप्त करनेका अभिलाषी भी रहता है । मुगल दरबारने सभी ज्ञानेन्द्रियोंको तुष्ट करनेके लिये नाना प्रकारके सुख-साधन उपस्थित किये हैं । सुख-लोलुप मन आत्माके आध्यात्मिक आधारको भूलकर इन सुखोंमें फँसता जा रहा है ।

हर्षानी—आपके विद्याभ्यासका आरम्भ आपके पिताश्रीकी देख-रेखमें ही हुआ था; अतः मानव-मनका—विशेषकर इस समयके मानव-मनका आपने जो चित्र खींचा है, वह सर्वथा यथार्थ है ।

विट्ठलनाथ—इसीलिये हर्षानीजी ! मैं मानव-मनको आध्यात्मिकताकी ओर झुकानेके लिये श्रीनाथजीकी सेवामें इस प्रकारका परिवर्तन करना चाहता हूँ, जिससे वह अपनी भौतिक वासनाओंको भी तुष्टि देकर भगवान्‌की ओर बढ़ सके ।

हर्षानी—इसके लिये भी आपने कोई योजना सोची होगी !

विट्ठलनाथ—हाँ, हर्षानीजी ! मैं बहुत समयसे इस उधेड़बुन-में लगा हुआ था । थोड़े दिन पहले ही मैंने इस योजनाको अन्तिम रूप दिया है और आज वल्लभ-जयन्तीके दिन आपकी सम्मतिके लिये उसे आपके सम्मुख उपस्थित करता हूँ ।

हर्षानी—आपने इसके लिये बड़ा उपयुक्त दिवस चुना है ।

विट्ठलनाथ—हर्षानीजी ! शिश्नेन्द्रियकी मर्यादित तृप्ति और संतानोत्पत्तिके लिये, जिससे वंशपरम्परा चलती रहे, हमारी संस्कृतिमें विवाहकी योजना है । आधुनिक कालमें चरित्रकी समुचित रक्षाके लिये पिताश्रीने संन्यासको वर्जित माना है ।

हर्षानी—हाँ, स्वयं संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् भी उन्होंने यही आज्ञा दी है कि हमारे सम्प्रदायमें अब कोई संन्यास ग्रहण न करे ।

विट्ठलनाथ—इसके बाद उन इन्द्रियोंका स्थान आता है, जो मनको सबसे अधिक प्रेरित करती हैं । ये चार हैं—चक्षु, श्रवण, घ्राण और रसना । मुगल दरबारने सभीको आकर्षित करनेके साधन प्रस्तुत किये हैं ।

हर्षानी—सर्वथा ।

विट्ठलनाथ—मैंने योजना बनायी है कि अब श्रीनाथजीका शृङ्गार केवल मयूरपिच्छकी चन्द्रिका और गुञ्जामालाका न होकर ऐसा वैभवशाली हो कि जन-समुदाय उनके दर्शन करनेमें अपने नेत्रोंको तुष्ट कर सके और उसके नेत्र इन दर्शनोंसे अघा न पायें । इसीलिये श्रीनाथजीके मस्तकके मैंने आठ शृङ्गार सोचे हैं । मुकुट, सेहरा, टिपारा, कुल्हा, पाग, दुमाला, फेंटा और पगा । बादशाह सलामत तो पगड़ीपर एक सिरपेंच ही बाँधते हैं, श्रीनाथजीके आठ प्रकारके शृङ्गार होंगे । फिर बादशाह सलामतके कंठे तो अधिक-से-अधिक छातीतक कुछ हार, कण्ठे आदि रहते हैं, श्रीनाथजीको तो कण्ठसे लेकर चरणपर्यन्त सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें विविध प्रकारके आभूषण धारण कराये जायँगे । इसीके साथ नाना प्रकारके ऐसे कलात्मक प्रदर्शन होंगे कि जिनके दर्शनसे लोग अपनी सुध-बुध भूल जायँगे । हमारी संस्कृतिके सम्बन्धमें एक कहावत प्रचलित है—'आठ वार और नौ त्यौहार' । अतः श्रीनाथजीके मन्दिरमें उत्सवोंकी धूम रहेगी और इन उत्सवोंके अतिरिक्त अगणित मनोरथ होंगे, जिनके दर्शन कर जनसमुदाय दंग रह जायगा ।

हर्षानी—(मुस्कराते हुए) बड़ी अच्छी सूझ है ।

विट्ठलनाथ—नेत्रोंको दर्शनोंसे कृतार्थ कर जन-समुदाय अपने कानोंको भरेगा मधुर कीर्तनकी ध्वनिसे । इसके लिये मैंने पिताश्रीके समयके चार—कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास और अपने समयके चार—गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, नन्ददास और चतुर्भुजदास—इस प्रकार आठ गायक कवियोंकी 'अष्टछाप' नामक एक मण्डली बनानेका निश्चय किया है ।

हर्षानी—यह भी अनुपम सूझ है ।

विट्ठलनाथ—हर्षानीजी ! इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन आठोंमें काव्य रचने और अपने काव्यको स्वयं गानेकी एक अद्भुत शक्ति है । इसे सोनेमें सुगन्ध कह सकते हैं । यह क्वचित् ही होता है कि कोई कवि गायक भी हो । फिर कहीं एकाध व्यक्ति ऐसा मिल सकता है, पर आठ-आठ व्यक्ति नहीं । इस अष्टछापके काव्यकी जब स्वरलहरी गूँजेगी, तब मुगल दरबारका सारा संगीत फीका पड़ जायगा ।

हर्षानी—एकदम फीका ।

विट्ठलनाथ—और घ्राणेन्द्रियको तुष्ट करनेके लिये नाना प्रकारके इत्रोंकी तथा गुलाबजल और केवड़ा-जलके सिञ्चनसे सुगंधकी लहरें उठेंगी । इत्र आदिका प्रयोग तो मुगल-दरबारमें भी होता है, पर हमारे यहाँ एक विशेष बात और होगी ।

हर्षानी—वह कौन-सी ?

विट्ठलनाथ—मुगल-दरबारके दस्तरखानपर जो खाना आता है, उसमें प्याज और लहसुनकी दुर्गन्ध रहती है । श्रीनाथजीके प्रसादमें इस दुर्गन्धके स्थानपर होगी केसर, कस्तूरी, अगर, बरास आदिकी सुगन्ध ।

हर्षानी—ठीक !

विट्ठलनाथ—और रसनाको तुष्ट करनेके लिये श्रीनाथजीके भोगकी ऐसी सामग्री निर्मित होगी, जिसकी अबतक किसीने कल्पना भी नहीं की है । इस प्रकार श्रीनाथजीका शृङ्गार, उनके सम्मुख होनेवाले कीर्तनका राग और खाद्य-सामग्रीका भोग जनसमुदायकी इन्द्रियोंको तुष्ट करते हुए उन्हें केवल भौतिकवादी ही नहीं रखेगा । यह सारा आयोजन यथार्थमें भगवान्‌की सेवाके लिये है; क्योंकि इस जड-जंगम समस्त सृष्टिके रूपमें वे ही हैं और वे हैं उत्तम-से-उत्तम वस्तुओंके भोक्ता, यह भावना जन-समुदायको केवल भौतिकवादी ही न रहने देकर उसे भगवत्परायण बना देगी । श्रीनाथजीके जैसे वैभवकी मैंने कल्पना की है, वह अद्वितीय होगा, हर्षानीजी ! अद्वितीय ।

हर्षानी—आपकी इस सारी योजनासे मैं सर्वथा सहमत हूँ, परंतु इसके साथ एक वस्तु और जोड़ना चाहता हूँ ।

विट्ठलनाथ—कौन-सी ?

हर्षानी—(विट्ठलनाथजीके धोती और उपरनेकी ओर संकेत करते हुए) इस धोती और उपरनेके स्थानपर आपका वेष भी अब राजसी होगा ।

विट्ठलनाथ—नहीं, नहीं, हर्षानीजी ! पिताश्रीने जीवनभर मोटी धोती और बिना सिलाये वस्त्र धारणकर बिना पदत्राण-के नंगे पैरों इकतीस वर्षतक भारत-भ्रमण किया । मैंने भी अबतक कोई ऐसा वस्त्र नहीं पहना है, जो सिया गया हो एवं न कोई आभूषण धारण किये हैं । मैं भी इसी वेषमें अपना जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ ।

हर्षानी—परंतु कृपानाथ ! आपके पिताश्रीके समय श्रीनाथजीने भी मोरचन्द्रिका और गुंजमाल ही धारण की थी । आप स्वयं कहते हैं कि परिस्थितिके परिवर्तनके कारण श्रीनाथजीकी सेवामें परिवर्तन आवश्यक है । वही बात आपके वेषके सम्बन्धमें भी है । आपके अग्रज गोपीनाथजी तिलकायत हैं । वे चाहें तो अपना वेष वैसा ही रख सकते हैं ।

विट्ठलनाथ—परंतु वे तो प्रायः जगदीशपुरीमें रहते हैं । उनका आकर्षण प्रधानरूपसे श्रीजगन्नाथजीका स्वरूप है । उनके तिलकायत रहते हुए भी श्रीनाथजीके तिलकायतका तो अधिकतर सारा कार्य मुझे ही करना पड़ता है ।

हर्षानी—जो कुछ हो, आपकी योजनाको सफल करनेके लिये आपके वेषमें भी परिवर्तन आवश्यक है । भगवान्‌ने आपको अद्भुत सौन्दर्य प्रदान किया है । इस वेषसे वह निखरेगा और आप आकर्षणके जीवित केन्द्र हो जायँगे ।

(नेपथ्यसे गानेकी एक ध्वनि आरम्भ होती है । विट्ठलनाथजी और हर्षानीजी इस पदको तन्मय हो सुनते हैं ।)

पद

प्रात समै श्रीबल्लभसुत कौ उठतहिं रसना लीजिये नाम ।
आनँदकारी (प्रभु) मंगलकारी, असुभ-हरन जन पूरनकाम ॥
याहि लोक, परलोकके बंधू, को कहि सकै तिहारे गुनग्राम ।
'नंददास' प्रभु रसिक सिरोमनि राज करौ (श्री) गोकुल सुख-धाम ॥

य व नि का

महात्मा सदाशिव ब्रह्मेन्द्र

(लेखक—श्रीरामलाल)

भगवती कावेरीके तटका अधिकांश महात्मा सदाशिव ब्रह्मेन्द्रकी आध्यात्मिक साधना और तपस्यासे गौरवान्वित है। वे अपने समयके महान् अध्यात्मवादी थे, बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति थे। वे जन्मजात विरक्त और परम तपस्वी थे। उन्होंने कुम्भकोणम्के निकट भगवती कावेरीके तटपर स्थित तिरुविशनल्लूर ग्रामको अपनी पवित्र स्थितिसे धन्य किया था। इस गाँवको तंजौरके मराठा शासक शाहजीने छियालीस विद्वानोंको शाहजीपुरम्के नामसे प्रदान किया था। उपर्युक्त विद्वानोंमें मोक्ष सोमसुन्दर अवधानी भी एक थे, जो सदाशिव ब्रह्मेन्द्रके पिता थे। ये सात्त्विक स्वभावके व्यक्ति थे। सदाशिव ब्रह्मेन्द्रकी माताका नाम पार्वती था। सदाशिव ब्रह्मेन्द्रका बचपनसे ही विद्यामें अनुराग था। बाल्यावस्थामें ही उनका विवाह कर दिया गया था। पत्नीके घर आनेपर उन्हें गुरुकुलसे बुलाया गया। उनकी अवस्था उस समय इक्कीस सालकी थी। घरमें वधूके आगमनका उत्सव मनाया जा रहा था। उस दिन सदाशिव ब्रह्मेन्द्रको भोजनके पहले उपवासका आदेश दिया गया था। भोजनमें विलम्ब होते देखकर उनके मनमें विचार उठने लगा कि निस्संदेह वैवाहिक जीवन परम दुःखमय है। अभी इसका आरम्भमात्र है, पर मुझे भोजनतकके सम्बन्धमें विलम्ब सहना पड़ रहा है। वे तत्काल सावधान हो गये। उनके मनमें वैराग्य उमड़ पड़ा। उन्होंने सोचा कि परमात्माकी खोजमें लग जाना ही जीवनकी सार्थकता है। वे गुरुकी खोजमें निकल पड़े। उन्होंने काञ्चीपुरम्में कामकोटि मठके स्वामी परमशिवेन्द्रसे दीक्षा लेकर गेरुआ वस्त्र धारणकर संन्यास-आश्रममें प्रवेश किया।

महात्मा सदाशिव ब्रह्मेन्द्रके गुरु परमशिवेन्द्रके स्थानपर अध्यात्मज्ञानकी पिपासाकी शान्तिके लिये संत-महात्मा दूर-दूरसे आया करते थे। सदाशिव ब्रह्मेन्द्र उनसे वाद-विवादमें प्रायः उलझ जाया करते थे। परमशिवेन्द्रको यह बात पसंद नहीं थी। एक दिन उन्होंने उलाहनेके स्वरमें शिष्यको सम्बुद्ध किया, 'तुम बोलना कब बंद करोगे?' गुरुके कृपामय शब्द थे। वे तत्काल ही सजग हो उठे; सदाके लिये उन्होंने मौन धारण कर लिया। वे '*मौनयोगी*'के नामसे प्रसिद्ध हो गये। वे ब्रह्मचिन्तन और ग्रन्थ-रचनामें लग गये। उनकी 'आत्मविद्याविलास' नामकी रचनाने शृङ्गेरी मठके शिवाभिनवसच्चिदानन्द नृसिंह भारतीका उन्हें कृपापात्र बना दिया। दण्ड और कमण्डलुका परित्याग कर महात्मा सदाशिव ब्रह्मेन्द्र अवधूत हो गये, वे समाधिमें मग्न रहने लगे।

एक समयकी बात है। वे एक खेतकी मेंड़को तकिया बनाकर उसपर सिर रखकर आत्मचिन्तन कर रहे थे। खेतिहरोंने उनको इस स्थितिमें देखकर व्यङ्ग किया कि 'यद्यपि इन्होंने विषयासक्तिका पूर्ण त्याग कर दिया है, तथापि आराममें इनकी आसक्ति बनी हुई है।' यह बात उन्हें लग गयी। खेतिहर तो चलते बने, पर सदाशिव ब्रह्मेन्द्र मेंड़का आश्रय छोड़कर ही आराम करने लगे। सिर हवाके आधारपर जमीनसे थोड़ा ऊपर स्थित था। खेतिहरोंने लौटते समय उनको इस हालतमें देखकर उनके यौगिक प्रदर्शनकी भर्त्सना की। महात्मा सदाशिव ब्रह्मेन्द्र सावधान हो गये। वे अवधूत वेषमें चल पड़े, योगसाधनाका भी उन्होंने परित्याग कर दिया। वे दिगम्बर हो उठे। शरीरपर न वस्त्र था न रहनेके लिये घर था। अनायास खानेके लिये जो कुछ भी मिल जाता, उसे कररूप पात्रमें लेकर खा लिया करते थे। वे ब्रह्मोन्मादकी स्थितिमें इधर-उधर विचरण करने लगे। उन्होंने अपनी इस अवस्थाका विवरण अपने 'आत्मविद्याविलास' ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है।

> आन्तरमेकं किंचित् संततमनुसंदधन्महामौनी।
> करपुटभिक्षामश्नन्नटति हि वीथ्यां जराकृतिः कोऽपि॥

संसारके प्रति पूर्ण अनासक्त होकर उन्होंने नैराश्यसे अपने आपको अलंकृत कर लिया। उनकी चित्तवृत्ति शान्त हो गयी, पेड़ोंके नीचे ही उन्होंने विश्रामस्थल बना लिया। वे निर्जन नदीके कुञ्जस्थलमें पुलिनरूप तल्पपर शयन करने लगे, वायु उनके लिये पंखा बन गयी तथा पूर्णचन्द्र ही उनके लिये दीपक था। यह थी उनकी ब्रह्मानन्दमयी अवस्था। 'आत्मविद्याविलास'में उनकी इस दिगम्बर-स्थितिका वर्णन उपलब्ध होता है—

आशावसनो मौनी नैराश्यालंकृतः शान्तः ।
करतलभिक्षापात्रस्तरुतलनिलयो मुनिर्जयति ॥
विजननदीकुञ्जगृहे मञ्जुलपुलिनैकमञ्जुतरतल्पे ।
शेते कोऽपि यतीन्द्रः समरससुखबोधवस्तुनिस्तन्द्रः ॥
भूतलमृदुतरशय्यः शीतलवातैकचामरः शान्तः ।
राकाहिमकरदीपो राजति यतिराजशेखरः कोऽपि ॥

यतिराजशेखर सदाशिव ब्रह्मेन्द्र जडकी तरह, बहरे और भूताविष्टकी तरह परमात्मामें लीन होकर इधर-उधर विचरते रहते थे । उन्हें लोग पागल समझते थे, पर उनके गुरु महात्मा परमशिवेन्द्रको अपने शिष्यकी वास्तविक दशाका ज्ञान था । वे खेद प्रकट करते थे कि 'मेरे हृदयका परिपाक ऐसा नहीं हो सका; मुझे इस तरहकी ब्रह्मोन्मादकी प्राप्ति नहीं हो सकी ।'

उन्मत्तवत्संचरतीह शिष्य-
स्तवेति लोकस्य वचांसि शृण्वन् ।
खिद्यन्नुवाचास्य गुरुः पुराहो
ह्युन्मत्तता मे नहि तादृशीति ॥

महात्मा सदाशिव ब्रह्मेन्द्रकी अवधूत-अवस्था अत्यन्त विलक्षण थी । कभी तो वे वनोंमें विश्राम करते थे, तो कभी भगवती कावेरीके तटपर शिलाकी तरह जडीभूत-अवस्थामें समाधिस्थ रहते थे । एक समयकी बात है । वे त्रिमूर्ति-क्षेत्रमें कावेरीके परम रमणीय तटपर कोडमुडी स्थान-पर विश्राम कर रहे थे । सहसा उनकी समाधि लग गयी । वे बालूके एक टीलेपर आसनस्थ थे । अचानक कावेरीमें बाढ़ आ जानेपर लोगोंने समझा कि वे पानीके साथ कहीं बह गये । तीन-चार मासके बाद एक किसान नदी-तटसे बालू लाने गया । उसने फावड़ा चलाया ही था कि उसे रक्तरञ्जित देखकर वह आश्चर्यमें पड़ गया । उसने धीरे-धीरे फावड़ा चलाया और सदाशिव ब्रह्मेन्द्रकी समाधि टूट गयी । वे उठ खड़े हुए और बिना किसी मानसिक अशान्ति-को प्रकट किये ही वे दूसरी दिशाकी ओर चल पड़े; ऐसा लगता था कि कुछ हुआ ही नहीं है । निस्संदेह जो व्यक्ति अपने जीवनमें ब्रह्मानन्दका रसास्वादन कर लेता है, उसके लिये जागतिक प्रपञ्चका रंचमात्र भी महत्त्व नहीं रह जाता ।

यद्यपि संत आध्यात्मिक चमत्कार और अनायास प्राप्त सिद्धि और प्रदर्शनसे बहुत दूर रहते हैं, तथापि आध्यात्मिक साधनाके फलस्वरूप उनके भीतर विद्यमान तेज तो लोगोंको प्रायः प्रभावित करता ही रहता है । एक समयकी बात है—कुछ लोग खेतमें धान काटकर बोझा बनाकर रख रहे थे । रातका समय था । अँधेरी रात थी । महात्मा सदाशिव ब्रह्मेन्द्र किसी ओरसे विचरण करते उधर ही आ पहुँचे और बोझेसे टकराकर जमीनपर गिर पड़े । खेत काटनेवालोंने उनको चोर समझा । मारनेके लिये हाथ उठाये ही थे कि हाथ उठे-के-उठे ही रह गये । दूसरे दिन प्रभात-कालमें खेतका स्वामी आया । खेत काटनेवालोंने उसे सारी बात बता दी । महात्मा सदाशिव ब्रह्मेन्द्र रातसे ही समाधिस्थ थे । प्रातः समाधिसे जागनेपर वे बिना किसीसे बातचीत किये ही वहाँसे चल दिये । खेत काटनेवालोंके हाथ भी पहलेकी तरह स्वस्थ हो गये ।

संतसे किसीके अहितकी सम्भावना ही नहीं रहती । वे तो सदा मङ्गलस्वरूप होते हैं । साथ-ही-साथ यह बात भी सच है कि यदि उनके प्रति कोई अपराध कर बैठता है तो दैवी विधानसे उसे दण्ड मिलता है । संत स्वयं किसीको दण्ड नहीं देना चाहते, वे तो राग-द्वेषसे नितान्त परे होते हैं । एक समयकी घटना है । सदाशिव ब्रह्मेन्द्र एक वन-प्रान्तमें विचरण कर रहे थे । उन्मत्त अवस्था थी, शरीर हृष्ट-पुष्ट था । किसी उच्च राजकर्मचारीके घरपर ईंधनके उपयोगके लिये उसी जंगलमें कुछ लोग जलानेकी लकड़ी काट रहे थे । उन्होंने लकड़ीका बोझा सदाशिव ब्रह्मेन्द्रके सिरपर रख दिया, महात्मा गाँवकी ओर चल पड़े । राज-कर्मचारीके निवास-स्थानपर पहलेसे ही कुछ लकड़ी एकत्र थी । ज्यों ही महात्माने अपने सिरकी लकड़ी उतारकर उस ढेरमें रखी, त्यों ही आग लग गयी । सारी लकड़ी जल गयी । महात्माने विलक्षण मस्तीमें अपनी राह पकड़ी । संत-महात्माकी सबसे बड़ी सेवा यह है कि उनके प्रति किये गये प्रत्येक व्यवहारमें हम पूर्ण सावधान और सचेत रहें तथा इस बातका सदा ध्यान रखें कि अपनी असावधानीसे हम उनके प्रति रंचमात्र भी अपराध न कर बैठें ।

संत सबकी संतुष्टिका ध्यान रखते हैं । अपने जनको संतुष्टि प्रदान कर वे स्वयं संतुष्ट होते हैं, यह उनका स्वभाव है । वे जड़-चेतन—समस्त प्राणी-पदार्थोंमें परमात्माका दर्शन करते हैं । वे भेदभावसे कोसों दूर रहते हैं । दूसरोंको प्रसन्न रखनेके लिये वे सदा सचेष्ट रहते हैं । एक समयकी बात

है। सदाशिव ब्रह्मेन्द्र उन्मत्त-अवस्थामें विचरण कर रहे थे। छोटे-छोटे बालकोंने उनको घेर लिया। वे भी लड़कोंका मन बहलाने लगे। बालकोंने आग्रह किया—'महाराज! मदुराके मन्दिरमें आज भगवान् सुन्दरनाथका बड़ा सुन्दर शृङ्गार होनेवाला है। हम महेश्वरका दर्शन करना चाहते हैं।' बालहठके सामने महात्माको नत होना पड़ा। उन्होंने अनेक बालकोंको अपने सिर और कंधोंपर बिठाकर आँख मूँदनेको कहा। बालकोंको लिये-दिये वे बात-की-बातमें मदुरा पहुँच गये। बालकोंने वृषभकी पीठपर विराजमान भगवान् सुन्दर-नाथका शृङ्गारयुक्त दर्शन किया। संतने बालकोंको प्रसाद दिलवाया। शृङ्गार-महोत्सव समाप्त होनेपर महात्मा सदा-शिव ब्रह्मेन्द्रने पहलेकी ही तरह बालकोंको अपने स्थानपर पहुँचा दिया।

दक्षिण भारतके श्रेष्ठ राजयोगियोंमेंसे वे एक थे। उन्होंने महर्षि व्यासके ब्रह्मसूत्रमें निरूपित ब्रह्मको अपनी आध्यात्मिक साधनाका प्राण स्वीकार किया। उन्होंने ब्रह्मसूत्रपर महत्त्वपूर्ण 'ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका' नामकी विवृति प्रस्तुत की, जिसमें उनके ब्रह्मचिन्तनकी प्रक्रियापर यथेष्ट प्रकाश मिलता है। अपने गुरुके चरणोंमें उनकी अद्भुत निष्ठा थी; अपने ब्रह्मचिन्तनको वे स्वगुरुनिष्ठाका परम फल मानते थे। 'सिद्धान्तकल्पवल्लीमें' सदाशिव ब्रह्मेन्द्रकी स्वीकृति है—

यदपाङ्गतः प्रबोधो भवदुःस्वप्नावसानकरः।
तमहं परमशिवेन्द्रं वन्दे गुरुमखिलतन्त्रजीवातुम्॥

(सिद्धान्तकल्पवल्ली, ३)

'जिनके कृपाकटाक्षसे संसाररूप दुःस्वप्नका अन्त हो जाता है तथा आत्मसाक्षात्कार सहज-सुलभ हो जाता है, समस्त शास्त्रोंको नया जीवन देनेवाले उन परमशिवेन्द्र गुरुको मैं नमस्कार करता हूँ।'

उन्होंने निष्कल-निर्गुण, शुद्ध-बुद्ध परमात्माके चिन्तनमें कहा है—

निरुपमनित्यनिरीहो निष्कल निर्मायनिर्गुणाकारः।
विगलितसर्वविकल्पः शुद्धो बुद्धश्चकास्ति परमात्मा॥

उन्होंने अपने गुरुकी कृपाके प्रकाशमें ही परमात्म-चिन्तन किया है। 'आत्मविद्याविलास' ग्रन्थमें उनकी कृतज्ञता-विज्ञप्ति है अपने गुरुके प्रति—

निरवधिसंसृतिनीरधिनिपतित जनतारणस्फुरन्नौकाम्।
परमतभेदनघुटिकां परमशिवेन्द्रार्यपादुकां नौमि॥

(आत्मविद्याविलास, २)

इसी तरह ब्रह्मसूत्र-वृत्तिके समापनमें वे कहते हैं—'कहाँ तो मैं अल्पायु बालक और कहाँ वेदान्तका यह गहन मार्ग! परमशिवेन्द्रकी कृपासे मैं वेदोंके तात्पर्यको जानकर उपनिषदोंकी व्याख्या करनेमें समर्थ हुआ हूँ'—

जडः क्वाहं बालः क्व च गहनवेदान्तसरणि-
स्तथाप्याम्नायार्थं परमशिवयोगीन्द्रकृपया।
विजानन् व्याख्यानं व्यरचयमहं वेदशिरस-
स्तदेतत्क्षन्तव्यं मयि सदयदृष्ट्या बुधजनैः॥

(ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका, अन्तिम श्लोक)

'आत्मविद्याविलास' सदाशिव ब्रह्मेन्द्रकी अत्यन्त मौलिक कृति है। उन्होंने बारह उपनिषदोंपर भी अपने विचार 'दीपिका' टीका लिखकर व्यक्त किये हैं। ब्रह्मसूत्रपर उनकी 'ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका वृत्ति' बड़ी उपादेय है। कहा जाता है कि पतञ्जलिके योगसूत्रपर भी उन्होंने 'योगसुधाकर' नामका भाष्य लिखा था। उनके गुरु परमशिवेन्द्रने उपनिषदोंके ब्रह्मपरक शब्दोंका 'वेदान्तनामसहस्रव्याख्या'के नामसे संकलित किया था। सदाशिव ब्रह्मेन्द्रने इस संकलनको छत्तीस श्लोकोंमें 'आत्मानुसंधान' नामसे संक्षिप्त किया था। अप्पय्य दीक्षितने 'वेदान्तसिद्धान्त-लेश-संग्रह'में वेदान्तसिद्धान्त-रत्नोंका विस्तारसे संग्रह किया। योगिराज सदाशिव ब्रह्मेन्द्रने 'सिद्धान्तकल्पवल्ली' नामसे दो सौ चौदह आर्याओंमें उन सिद्धान्तोंको संक्षिप्त किया।

कहा जाता है कि यतिराजशेखर सदाशिव ब्रह्मेन्द्र पृथ्वीपर दो सौ सालतक विराजमान रहे। ज्येष्ठ शुक्ला दशमीको भगवती कावेरीके तटपर करूरके निकट नेरूर नामक स्थानमें उन्होंने महासमाधि ली। उनकी परम पवित्र समाधिस्थली अत्यन्त रमणीय है। निस्संदेह वे जन्मजात सिद्ध थे। वे सदा सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माके चिन्तनमें तल्लीन रहकर विश्वातीत हो उठे।

श्रीराधामाधव-प्रेम-माधुरी

श्रीराधामाधव-प्रेम दिव्य रस-भाव-सिन्धु है, जो अनादिकालसे अनवरत नूतनरूपमें लहरा रहा है। इस निर्मल रस-भाव-सिन्धुकी विभिन्न तरंगोंके अबतक न जानें कितने भाग्यवान् पुण्यजीवन प्रेमी भक्तोंने अपनी-अपनी रुचि तथा दृष्टिके अनुसार दर्शन किये हैं और न जानें कितने प्रकाशमान नक्षत्ररूप कवि महानुभावोंने विभिन्न भाषाओंमें मधुरतम काव्यकलापूर्ण लक्ष-लक्ष रचनाओंके द्वारा उन प्रेम-तरंगोंको मूर्तिमान् करनेका सत्-प्रयास किया और अब भी कर रहे हैं। वे सभी प्रेमी अनुभवी महात्मा और साहित्यरसिक विद्वान् महानुभाव परम वन्दनीय हैं।

बड़े सौभाग्यकी बात है कि हमारे परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारपर भी श्रीराधामाधवकी विशेष कृपा थी। उनके मानस-पटलपर श्रीराधा-माधवकी प्रेम-माधुरीके बड़े ही सरस प्रसङ्ग उद्भूत हुए हैं और उनमेंसे कतिपय प्रसङ्ग वाणीके माध्यमसे पदोंके रूपमें प्रकट हुए हैं। उन्हीं पदोंमेंसे नीचे चार पद अर्थ-सहित दिये जा रहे हैं। इनमें श्रीराधामाधवकी दिव्य एवं रसमयी झूलन-लीलाका बड़ा ही मनोहारी सजीव चित्रण है—

हिंडोरें झूलत स्यामा-स्याम।
नव नटनागर, नवल नागरी, सुंदर सुषमाधाम॥
सावन मास घटा घन छाई, रिमझिम बरसत मेह।
दामिनि दमकत, चमकत गोरी, बढ़त नित्य नव नेह॥
कल्पद्रुम-तल सीतल छाया रतन-हिंडोरा सोहै।
झूलत प्रीतम-प्रिया ताहि पर चित्त परस्पर मोहै॥
नील-हेम तनु पीत-नील पट सोहत सरस शृंगार।
चंचल मुकुट, सुचारु चंद्रिका, गल मुक्तामनि हार॥
सखि ललितादिक देत झकोरे, मिलत अंग प्रति अंग।
गावत मेघ-मलार मधुर सुर, बाजत ढोल-मृदंग॥
हँसत-हँसावत, रस बरसावत सखी-सहचरी-वृंद।
उमग्यौ आनँदसिंधु, मगन भए दोऊ आनँदकंद॥

श्रीराधामाधव हिंडोरेपर झूल रहे हैं। नवीन नटका-सा वेष धारण किये चतुर-चूडामणि श्रीश्यामसुन्दर तथा परम विदग्धा नवयौवना श्रीराधा—दोनों ही सौन्दर्य तथा शोभाके निलय हैं। श्रावण मास है, बादलोंकी घटा छायी है, रिम-झिम वर्षा हो रही है। बिजली चमक उठती है, जिससे श्रीराधा चौंक उठती हैं। दोनोंकी प्रीति नित्य नवीन भावसे बढ़ती ही जाती है। कल्पवृक्षके तले ठंडी छायामें मणिजटित हिंडोरा सुशोभित है। उसीपर प्रिया श्रीराधा एवं प्रियतम श्रीकृष्ण झूल रहे हैं तथा परस्पर एक-दूसरेके मनको मोहित कर रहे हैं। भगवान् श्रीराधामाधवके नीलश्याम एवं स्वर्णिम कलेवरोंपर क्रमशः पीताम्बर एवं नीलाम्बर शोभा दे रहे हैं तथा उन्होंने रसयुक्त शृङ्गार धारण कर रखे हैं। भगवान् श्रीकृष्णके मस्तकपर चञ्चल मुकुट तथा श्रीराधाके मस्तकपर सुन्दर चन्द्रिका है। दोनोंके गलेपर मोतियों तथा रत्नोंके हार झूलनेके कारण हिल-डुल रहे हैं। ललिता आदि सखियाँ झोटे दे रही हैं। श्रीराधामाधवके सभी अङ्ग परस्पर मिल रहे हैं। सखियाँ मीठे स्वरमें 'मेघ-मलार' नामक रागिणी गा रही हैं तथा ढोल एवं मृदङ्ग बजा रही हैं। सखियों एवं

सहचरियोंका समूह स्वयं हँसते हुए दूसरोंको हँसा रहा है तथा रसकी वर्षा हो रही है। सुखका समुद्र उमड़ चला है तथा उसमें दोनों आनन्दकन्दस्वरूप श्रीराधा-माधव निमग्न हो गये हैं।

झुलावति स्यामा स्यामकुमार।
हेम-रत्न-निर्मित झूला पर, रुचिर रेसमी डोरी डार॥
मन अति मुदित झुलावति गोरी, सह न सकति स्रम तन सुकुमार।
सोहत ललित कपोल-भाल पर स्वेद-बिंदु स्रम-जनित अपार॥
कूदि परे लखि स्रमित श्रीमती, झट झूले का कर परिहार।
बैठारी कर-कमल पकरि कै निज कर, उर भरि अतिसय प्यार॥
कोमल कुसुम-कली मंडित सिंहासन पर, प्रिय अमित उदार।
निज पट अंचल पोंछे निज कर स्वेद-बारि-कन नंदकुमार॥
ललितादिक सखियन बैठारे जीवनधन, करि अति मनुहार।
आदरसहित मधुर बानी सौं, करन लगीं सौरभित बयार॥

श्यामल किशोर श्रीनन्दनन्दनको श्रीराधा झूलेपर झुला रही हैं। रत्नजटित स्वर्णनिर्मित हिंडोलेपर सुन्दर रेशमी डोरी बाँधी गयी है। श्रीकिशोरी मनमें अत्यन्त प्रसन्नता भरकर झुला रही हैं, पर उनका सुकोमल तन इस श्रमभारको वहन नहीं कर पाता। इस श्रमके फलस्वरूप उनके सुन्दर कपोलों तथा ललाटपर पसीनेकी अगणित बूँदें झलक उठी हैं, जो अत्यन्त शोभायुक्त हैं। श्रीमती राधाको थकी हुई देखकर श्रीश्यामसुन्दर झूलेका परित्याग करके उससे कूद पड़े। आत्यन्तिक प्रीतिसे परिपूरित हृदयसे उन्होंने अपने हाथों श्रीमती राधाके हस्तकमलोंको धारण करके, उन्हें कोमल पुष्पों तथा कलियोंसे आच्छादित सिंहासनपर विराजित किया। औदार्यकी अनन्त राशि प्रियतम नन्दनन्दनने अपने हाथों पीताम्बरके छोरसे प्रियाके श्रमजल-बिन्दु पोंछे। ललिता आदिक सखियोंने जीवनधन श्रीश्यामसुन्दरको अत्यन्त सुमधुर वचनोंसे आदरपूर्वक अभ्यर्थना करके सिंहासनपर विराजित किया तथा वे श्रीराधामाधव दोनोंको सुगन्धयुक्त हवा करने लगीं।

झुलावत निज कर नंदकिसोर।
रतन हिंडोरें बैठी राधा झूल रही आनंद-बिभोर॥
झूलि रही प्रिय के सुख कारन, भूलि रही सगरौ संसार।
मुख-पंकज-मकरंद-पानरत नयन-मधुप, आनंद अपार॥
निरखि किसोरी कौ सुस्मित आनंदनिमग्न बदन-सरदिंदु।
उमग्यौ हरि-उर परम मधुर अति प्रेमानंद-सुधा-रस-सिंधु॥
सखी-सहचरी भूलीं तन-मन, निरखि मधुर लीला-रस-रंग।
मर्माहत मूर्छित ह्वै रति सँग अवनी ऊपर परयौ अनंग॥

श्रीनन्दनन्दन श्रीराधाको अपने हाथोंसे हिंडोरेपर झुला रहे हैं। आनन्दमें विभोर (आत्मविस्मृत) हो श्रीराधा मणिजटित हिंडोरेपर बैठी झूल रही हैं। श्रीराधा 'मुझे झुलानेसे प्रियतमको सुख प्राप्त हो रहा है'—इस विचारसे प्रियतम श्रीकृष्णके सुखार्थ झूलेपर झूल रही हैं। उन्हें एक प्रियतमके सुखकी स्मृतिके अतिरिक्त समस्त संसारकी विस्मृति हो रही है। उनके नेत्ररूपी भ्रमर प्रियतम श्रीकृष्णके वदन-कमल-मकरन्दके पानमें लीन हैं तथा इसमें उनको अपरिमित सुख प्राप्त हो रहा है। किशोरी श्रीराधाके सुखमग्न सुन्दर मुस्कान-युक्त शारदीय चन्द्रमाके सदृश मुखमण्डलके दर्शन करके श्रीकृष्णके परम मधुरिमामय हृदयमें प्रीति तथा आनन्दामृत-

रसका समुद्र उमड़ पड़ा । इस माधुर्यपूर्ण लीला-रस-रङ्गके दर्शन करके सखियाँ-सहचरियाँ अपने तन-मनकी सुधि विस्मृत कर बैठीं । स्वयं कामदेव अपनी पत्नी रतिके सहित मर्माहत एवं मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।

कानन नव निकुंज अति सोहनि ।
कुसुमित लता सुगंध-समन्वित सुर-मुनि-जन-मन-मोहनि ॥
नव पल्लव सोभित कदंब की साखा परम बिसाल ।
तेहि पर सुक-सारिका-पिकादिक गावत राग रसाल ॥
तहाँ सुदिव्य सुरम्य हेम-मनि-मंडित झूला डारी ।
रसमय रहे बिराज नंदनंदन-वृषभानुदुलारी ॥
ब्रज-रमनी सब देयँ झकोरे प्रियतम-प्रिया झुलावत ।
रूप-सुधा-सागर-तरंग-सी मिलि सब मोद बढ़ावत ॥
रसप्रमत्त झूलत नव नागरि तुरत परन-सी लागी ।
पकरि भरी अँकवार स्यामघन प्रेम-सुधा-रस-पागी ॥
राधा मोहन, मोहन राधा भए एक आकारा ।
बिहँसि उठीं सब ब्रज की बाला, बही अमी-रस-धारा ॥

श्रीवृन्दावनमें अत्यन्त शोभायुक्त सुगन्धपूर्ण पुष्पोंसे लदी लताओंद्वारा नवीन निकुञ्जका निर्माण किया गया है, जो देवताओं तथा मुनियोंके मनको भी मोह लेती है । उसमें अति विशाल कदम्ब-वृक्षकी नवीन पत्रोंसे युक्त सुशोभित डालीपर तोते, मैना तथा कोयल आदि रसभरी रागिणी अलापते हैं । उसी डालीपर रत्नजटित एवं स्वर्णनिर्मित, अति अलौकिक, सुन्दर, रमणीय झूला डालकर रसभरे नन्द-नन्दन श्रीश्यामसुन्दर एवं वृषभानुलाडिली श्रीराधा सुविराजित हैं । प्रियतम श्रीकृष्ण तथा प्रियतमा श्रीराधाको समस्त व्रजाङ्गनाएँ झोटे देकर झुला रही हैं । सौन्दर्यामृत-सागरकी लहरोंके सदृश वे समस्त व्रजरमणियाँ मिलकर आनन्दकी वृद्धि कर रही हैं । नवीन नागरी श्रीराधा झूल रही थीं कि तुरंत सुखमें बेसुध हुई गिरने-सी लगीं । श्याम मेघकी-सी कान्तिवाले प्रेमामृतरसपूरित श्रीश्यामसुन्दरने उन्हें तत्काल थाम लिया तथा अँकवार दे दिया । श्रीराधा तथा मनमोहन श्रीश्यामसुन्दर तथा श्रीश्यामसुन्दर एवं श्रीराधा मिलकर एकाकार हो गये । यह देखकर समस्त व्रजाङ्गनाएँ प्रमुदित होकर हँसने लगीं तथा अमृत-रसका प्रवाह बह उठा ।

व्रजाङ्गनाओंके घरमें ब्रह्मदर्शन

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः ।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥

उपनिषदोंके बीहड़ जंगलोंमें घूमते-घूमते नितान्त श्रान्त लोगो ! मेरे इस सर्वश्रेष्ठ उपदेशको आदर-पूर्वक सुनो । उपनिषदोंके सारतत्त्व—वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मकी यदि खोज हो तो उसे व्रजाङ्गनाओंके घरोंमें ऊखलसे बँधा देख लो ।

(श्रीलीलाशुक)

गांधी-जीवन-सूत्र

[विनोदकी वृत्ति]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'मुझमें यदि विनोदकी वृत्ति न होती तो मैंने कभी आत्महत्या कर ली होती।'

गांधीजीने सन् १९२१ में 'यंग इंडिया' में यह तथ्य स्वीकार किया था कि विनोद-वृत्ति भी उनका एक जीवन-सूत्र था।

भला, वह भी कोई जीवन है, जिसमें विनोद न हो, जिसमें हँसी और खिलखिलाहट न हो, जिसमें अट्टहास और मुस्कराहट न हो।

विनोदशून्य जीवन होता है मनहूसोंका, पापियोंका, दुराचारियोंका। जो आदमी हँसता-मुस्कराता नहीं, वह षड्यन्त्रोंके लिये, गलत कामोंके लिये सर्वथा उपयुक्त माना जाता है। पर जिस आदमीने सत्य और प्रेम, करुणा और दया, सेवा और संयम, त्याग और बलिदानको अपने जीवनका सूत्र बना लिया है, उसके चारों ओर तो आनन्द-ही-आनन्द बिखरा रहता है। वहाँ तो हरदम मस्ती है, हरदम मुस्कराहट है, हरदम प्रसन्नता है।

× × ×

ऐसा व्यक्ति तो खुली किताब-जैसा रहता है। चाहे जो पन्ना खोलकर पढ़ लीजिये, न कहीं दुराव है न कहीं छिपाव। छोटे और बड़े, स्त्री और पुरुष—सब उसके अपने हैं, आत्मीय हैं। गरीब और अमीर, सेठ और साहूकार, किसान और मजदूर—सभी उसके परिवारके अङ्ग हैं। सबके साथ वह एकरस रहता है। सबके साथ वह खुलकर मिलता है। सबके साथ वह हँसता है, खेलता है, अट्टहास करता है।

गांधीजीने विनोदको अपने जीवनका अङ्ग बना लिया था। पर कैसा विनोद ?

गांधीजीके विनोदमें विवेक रहता था, स्नेह रहता था, प्रेम रहता था, गहराई रहती थी, सदाशयता और पवित्रता रहती थी।

गांधीजी कभी किसीकी पीठ ठोंककर विनोद करते थे, कभी चपत लगाकर।

एक बार बादशाह खान—अब्दुल गफार खाँने गांधीजीसे कहा—

'बापू! आप तो मुझे कभी अपनी प्यारकी चपत मारते नहीं!'

गांधीजी बोले—इसीलिये कि कहीं तुमने भी उसी सिक्केमें भुगतान कर दिया तो मेरा तो कचूमर ही निकल जायगा।

बादशाह खानने खानका लंबा-तड़ंगा शरीर पाया है!

× × ×

एक दिन गांधीजीकी कुटियामें पण्डित जवाहरलाल नेहरू घुसे कि अँधेरेमें वे गांधीजीकी लकुटीसे टकरा गये।

पण्डितजीको बड़ी खीझ हुई। बोले—'बापू! आप तो अहिंसाके पुजारी हैं, फिर यह लाठी यहाँ क्यों रख छोड़ी है?'

गांधीजी बोले—'तुम्हारे-जैसे शरारती लड़कोंको सीधा करनेके लिये!'

× × ×

एक दिन गांधीजी अपने पत्रके लिये गम्भीर लेख लिख रहे थे कि बालकोंके दलने उनपर हमला कर दिया। उन्हें देखते ही गांधीजीने पूछा—'इस वानर-सेनाने क्यों चढ़ाई की है?'

नेता बोला—'आज आपको हमारे साथ नदीमें नहाने चलना है।'

गांधीजीने लाख सिर हिलाया, पर वानर-सेना भला पिण्ड छोड़नेवाली थी ?

किसीने कहा—'हम आपकी हर बात मानते हैं, आप हमारी जरा-सी बात न मानेंगे।'

किसीने कहा—'आपके कहनेसे हम तकली चलाते हैं, प्रार्थना करते हैं और आप हमारे साथ नहाने भी नहीं चल सकते?'

किसीने कहा—'काम तो आपको आठों पहर रहता है; फिर हमारे लिये एक दिन जरा-सा समय नहीं निकाल सकते?'

एक लड़का दौड़कर बासे गांधीजीकी धोती और तौलिया ले आया। दूसरेने उनकी चप्पलें आगे बढ़ा दीं।

लाचार गांधीजीको उठना पड़ा।

बच्चे खुश हो गये । गांधीजी बोले—'पर मेरी एक शर्त है ।'

'क्या ?'

'तुमलोग गुस्सेमें आकर किसीको गाली नहीं दोगे, इसका वादा करो तो चलूँ ।'

'हाँ-हाँ, हम वादा करते हैं ।'

फिर साबरमतीमें गांधीजी देरतक नहाते रहे, तैरते रहे, तैरना सिखाते रहे बच्चोंको, उनके उत्तर भी देते रहे ।

एक बच्चेने पूछा—'बापू ! आपको एक दफा साबुन लगानेसे दाद हो गयी थी न ? जरा सुनाइये तो ।'

गांधीजीने कहा—'तब मैं विलायत जा रहा था बैरिस्टरी पढ़ने । यही था कोई १८-१९ सालका । जहाजपर समुद्रके खारी पानीसे नहाना पड़ता था । उसीमें साबुन लगानेसे दाद हो गयी ।'

'फिर दाद अच्छी कैसे हुई ?'

'एक डाक्टरकी दवासे । पर वह दवा बहुत तेज लगती थी । उसकी जलनसे मैं रोने लगता था ।'

'आप भी रोते थे, बापू ?'

'रोता न तो क्या करता ? खालपर लगाता था, मानो किसीने आगके अंगारे रख दिये हों ।'

पर बच्चोंको यकीन ही न होता था कि इतने बड़े गांधीजी कभी रोते भी रहे होंगे ।

× × ×

एक बार आश्रमके बच्चोंने गांधीजीसे कहा—'बापू ! गीतामें अर्जुन एक सवाल पूछता हो तो श्रीकृष्णजी एक अध्यायमें उसका उत्तर देते हैं । हम कई-कई पन्नोंकी चिट्ठी लिखते हैं और आप एक छोटे-से वाक्यमें उसका उत्तर देकर टरका देते हैं । हमको ऐसा क्यों ?'

गांधीजी बोले—'भगवान् श्रीकृष्णको तो एक ही अर्जुनको जवाब देना था और मेरे आगे तो इतने सारे अर्जुन हैं ।'

× × ×

जेलमें बल्लभभाई संस्कृतका अभ्यास कर रहे थे । कोई प्रसङ्ग मिलता कि झटसे कोई सूक्ति जड़ देते ।

एक दिन गांधीजीसे उन्होंने एक चारपाईको लेकर देरतक सवाल-जवाब किये । बहुत जोर दिया कि उसे निवारसे भरवा लें । गांधीजी कहते थे कि नारियलकी रस्सी ही ठीक होगी । सरदार बोले—'इससे तो मुट्ठीभर हड्डियोंपर जो पतली चमड़ी है, वह भी छिल जायगी ।'

गांधीजीने कहा—'इस खटियापर निवार ऐसी लगेगी, जैसे बूढ़ी घोड़ीपर लाल लगाम । इसपर तो नारियलकी रस्सी ही भली ।'

गांधीजीने चारपाई बरामदेसे नीचे उतरवायी तो सरदारने कहा—'लेकिन बारिश आयेगी तब ?'

गांधीजी—'तब ऊपर चढ़ा लेंगे ।'

सरदार बोले—'ततो दुःखतरं नु किम् !'

गांधीजी हँसकर बोले—'मैं तो पहले ही जान गया था कि तुम ये सारे सवाल-जवाब किसी सूक्तिका प्रयोग करनेके लिये ही कर रहे हो ।'

× × ×

गांधीजीपर देशका इतना बड़ा भार था । देशकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक समस्याएँ हरदम उनके आगे रहती थीं, पर वे गम्भीर-से-गम्भीर क्षणोंमें भी विनोद करते रहते थे ।

जब देखिये गांधीजी मुस्करा रहे हैं, हँस रहे हैं, अट्टहास कर रहे हैं, विनोद कर रहे हैं । कभी-कभी तो अपना रक्तचाप ठीक करनेके लिये भी वे विनोदकी बातें करते थे । मस्त फकीर थे वे, जिसके लिये कहा गया है—

हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है, बाबा ।
जब आशिक मस्त फकीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है, बाबा ।

दुःख और खेद, चिन्ता और परेशानी ऐसे निर्मल विनोद-वृत्तिवाले व्यक्तिसे कोसों दूर रहते हैं ।

× × ×

विनोदकी वृत्ति स्वास्थ्यके लिये सजीवन-मूरि है, संजीवनी बूटी है । अंग्रेजीमें कहावत है—Laugh away your blows. (अपनी चोटोंको हँसकर भुला दो) ।

जो हँसता रहता है, मुसकराता रहता है, उसका जीवन दिन-दिन स्वस्थ, प्रसन्न और आनन्दमय बनता चलता है । आइये, हम भी गांधीजीकी तरह विनोद-वृत्तिको अपने जीवनका सूत्र बनायें ।

इसमें हमें सावधानी इतनी ही रखनी है कि हमारा विनोद शुद्ध और पवित्र हो, उसमें निन्दा और तिरस्कार, घृणा और द्वेष, अपमान और भर्त्सनाका लेश भी न हो । हम हँसें, हमारे आसपासके सभी लोग हँस पड़ें, खिलखिला पड़ें । ऐसा विनोद ही सच्चा विनोद है ।

मनुष्य पशुसे भी अधिक हिंसक है

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

प्राणिमात्रमें मनुष्य सबसे अधिक विवेकी माना जाता है और पशु बहुत हीनकोटिका । कई बातोंमें तो मनुष्य देवोंसे भी बाजी मार लेता है । देवोंके पास ऐश्वर्य अधिक होनेसे वे विलासी अधिक हैं । त्याग एवं तपमें मनुष्य उनसे बाजी मार लेता है । इसलिये देवोंके लिये मोक्ष नहीं है, उसका एकमात्र अधिकारी मानव ही माना गया है । अर्थात् देवता चरम आत्मिक उत्कर्षको नहीं पा सकते । मानवको जैसे अधिकार प्राप्त हैं, वैसे ही निम्नगति एवं नरकका भागी भी वही है । शक्तिका उच्चतम विकास होना एक महत्त्वकी बात अवश्य है, पर प्राप्त शक्तिपर साधनोंका दुरुपयोग न करना ही अधिक महत्त्वकी बात है ।

आपको आश्चर्य-सा होगा कि मनुष्य डींगें मारनेपर भी बहुत-सी बातोंमें पशुओंसे भी गया-बीता है । विचार-शक्ति एवं आविष्कार-शक्तिके वैशिष्ट्यका मनुष्यने दुरुपयोग अधिक किया है । यहाँ उसके उदाहरण उपस्थित किये जा रहे हैं । पाठक देखेंगे कि मनुष्य पशुओंसे अधिक हिंसक है ।

मनुष्यने जिस प्रकार दया एवं दानद्वारा अपना महत्त्व प्रकट किया है, उसी प्रकार सबसे अधिक हिंसक होना भी प्रमाणित किया है । अपनी विचारशीलतासे वह हिंसा और अहिंसा दोनोंकी ही गहराइयोंमें उतरा है । जिस प्रकार जीवनमें उसने अहिंसाका आदर्श उपस्थित किया है, उसी प्रकार हिंसामें भी वह बहुत आगे बढ़ा हुआ पाया जाता है । पशुओंकी हिंसाके साथ तुलना करनेपर मानवकी हिंसा उसकी अपेक्षा बहुत बढ़ जाती है । वह अक्षम्यकी सीमातक पहुँच जाती है । यहाँ कुछ तुलनात्मक प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं, जिनसे उपर्युक्त कथन भलीभाँति स्पष्ट हो जायगा ।

पशु दो कारणोंसे हिंसा करता है—(१) उदर भरने अर्थात् क्षुधा-निवृत्तिके लिये और (२) आत्मरक्षाके लिये । किंतु मनुष्य विनोदके लिये तथा चतुराई एवं शक्तिप्रदर्शनके लिये अनावश्यक हिंसा कर पशुसे भी आगे बढ़ जाता है । अपने विनोदके लिये वह दो पशुओंमें वैर-भाव बढ़ाकर उनकी भिड़ंत कराता है—उन्हें झगड़नेके लिये प्रोत्साहित करता है । उन अबोध प्राणियोंकी अज्ञानताका वह विपरीत लाभ उठाता है । व्यर्थ ही उनकी जान जाती है ।

शिकारके शौकके कारण भी वह अनेकों छोटे-बड़े पशुओंका हनन करता है । यही नहीं, इसमें अपनी चतुराईकी डींगें मारकर हिंसाकी प्रशंसा भी करता है । अपने सौख्य एवं आरामके लिये भी वह हिंसा करता है । रेशमी वस्त्रोंके लिये असंख्य जन्तुओंकी हिंसा की जाती है । सूती वस्त्रोंमें भी पालिशके लिये जन्तुओंकी चर्बीका खुला प्रयोग किया जाता है ।

२—पशु पेट भरनेके लिये ही मांस-भक्षण करते हैं, मनुष्य जिह्वाके स्वादके लिये भी तरह-तरहके पशु-पक्षियोंकी हत्या करता है । कहा जाता है कि सम्राट् अकबरको चिड़ियोंकी जीभ बड़ी स्वादिष्ट लगती थी । इसलिये हजार चिड़ियोंको नित्य उसके स्वादके लिये मारा जाता था । क्षुधा-निवृत्तिके लिये सीमित हिंसा होती है, पर स्वादके लिये सीमातीत संहार होता है ।

३—पशुओंके पास हिंसा करनेके साधन सीमित हैं । हाथ और दाँत ही उनके प्रधान शस्त्र हैं, पर मनुष्यने अपनी बुद्धिसे अनेक प्रकारके तलवार, बंदूक, तोप, भाला आदि हिंसक शस्त्रोंका आविष्कार कर लिया है । वह दूरसे ही एक साथ अनेक प्राणियोंको मार डालता है । इस विज्ञानके युगमें तो मनुष्यने ऐसे अस्त्र-शस्त्रोंका आविष्कार किया है, जिससे क्षणमात्रमें असंख्य प्राणियोंका संहार किया जा सकता है । हमारे यहाँ प्राचीनकालमें भी ऐसे शस्त्रोंके प्रयोगकी चर्चा आती है, परंतु उन दिनों उनका प्रयोग बहुत कम किया जाता था ।

४—पशु तो अपनी एवं अपने परिवारकी क्षुधा-निवृत्तिके लिये ही हिंसा करता है, पर मनुष्यने तो उसे व्यापारतकका रूप दे दिया है । इस कारण हिंसाका पार ही नहीं रहा; क्योंकि व्यापार तो सारे विश्वके लिये भी बढ़ाया जा सकता है । अतः संग्रह-वृत्ति होनेसे संहार बढ़ता है ।

५—बड़े-बड़े युद्धोंके रूपमें मनुष्य जो संहार करता है, वह पशुओंके लिये कल्पनासे बाहर है ।

६—पशु स्वजाति-संहार प्रायः नहीं करता, परंतु मनुष्य स्वजातिका संहार भी बहुत अधिक करता है। युद्धादिमें तो उसकी सीमा ही नहीं रहती।

७—औषधों तथा अन्य प्रयोगोंके लिये बंदरों आदिकी क्रूरतापूर्वक हत्या की जाती है। 'क्रोम' नामके चमड़ेको तैयार करनेके लिये कहा जाता है कि जीवित प्राणियोंके चमड़ेको मुलायमीके लिये बड़ी क्रूरतासे उतारा जाता है। अंग्रेजी दवाओंमें तो अनेकों दवाएँ ऐसी हैं, जो जीवोंकी हिंसासे ही तैयार की जाती हैं। आजकल तो खेतीमें भी प्रचुरतासे जीवहिंसा की जाती है। दैनिक व्यवहारमें चर्मका उपयोग बहुत अधिक मात्रामें किया जाता है और चमड़ेके उत्पादनके लिये हजारों उपयोगी पशु काटे जाते हैं।

८—प्राणनाशके अतिरिक्त कष्ट देनेकी हिंसा तो मनुष्य असंख्य प्रकारसे करता है। सर्कसमें पशुओंको खेल दिखानेके लिये साधने, उनसे अधिक भार ढुलाने तथा अधिक काम लेने, बधिया करने, अङ्गोपाङ्ग छेदने, गाय-भैंस आदिके बच्चोंको दूधसे वञ्चित रखने तथा पक्षियोंको पिंजरेमें डालनेके रूपमें भी पर्याप्त हिंसा होती है।

९—मनुष्यमें वाक्-शक्ति और विचार-शक्तिकी अधिकता होनेसे पारस्परिक कलह और वाणीद्वारा अनिष्ट करनेकी भावना आदिके रूपमें भी हिंसा बहुत अधिक होती नजर आती है।

हिंसा पशुता है और अहिंसा, दया, करुणा, प्रेम एवं सहानुभूति मानवता। मनुष्यको उचित है कि वह मानवोचित गुणोंका विकास करे।

सात बातें

(एक सत्सङ्ग-प्रेमी)

१—प्रतिदिन हम यह सोचें—'हमारा रास्ता कितना और तय हुआ, भगवान्‌की ओर हम कलसे आज और कितना बढ़े ?'

२—भगवान्‌की स्मृति अधिक रहने लगे, भगवान् उत्तरोत्तर अधिक मीठे लगने लगें, भगवत्सम्बन्धी बातें प्यारी लगें, संसारकी चर्चा कड़वी लगने लगे—तब समझना चाहिये कि हम आगे बढ़ रहे हैं।

३—प्रतिदिन बार-बार हम यह सँभालते रहें कि मेरी मन-इन्द्रियाँ—सब भगवान्‌की सेवामें लग रही हैं कि नहीं। मनके लगनेका अर्थ है—मनकी आँखोंसे प्रभु कभी सामने बैठे हुए, कभी सामने खड़े हुए तथा कभी बातें करते हुए दीखते रहें। इन्द्रियोंका लगना यह है कि जीभसे उनका नाम उच्चारण होता रहे तथा शरीरकी प्रत्येक इन्द्रियकी जो भी चेष्टा हो, वह उन्हींके लिये हो। ऐसा अनुभव हो कि भगवान् कह-कहकर मुझसे अपना कार्य करवा रहे हैं। इसमें इतनी सावधानी अवश्य रखनी है कि निषिद्ध कार्यके लिये भगवान् कभी नहीं कहते। मनमें जो स्फुरणाएँ होती हैं, उनमें जो अशुद्ध एवं राग-द्वेषजनित होती हैं, वे तो अपनी हो रही हैं तथा जो विशुद्ध, राग-द्वेषरहित और भगवत्सम्बन्धी हो रही हैं, वे सब भगवत्प्रेरित हो रही हैं। भगवत्प्रेरित शुभ स्फुरणाओंसे खूब प्रसन्न होना चाहिये तथा उनको क्रियामें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

४—जब-जब भगवान्‌की स्मृति हो, तब-तब हम यह सोचें—स्मृतिके रूपमें भगवान् आ गये हैं। बिना मेरे बुलाये आये हैं। बस, आ तो वे अपने-आप गये हैं, अब मैं उन्हें छोड़ूँगा नहीं। तथा उन्हें खूब कसकर पकड़ रखें। उनसे मन-ही-मन बातें करें एवं उनकी माधुरी-छविको देखकर मुग्ध होते रहें—यह उनको कसकर पकड़ना है।

५—जब आये हुए भगवान्‌का हम इस प्रकार स्वागत करेंगे, तब वे बहुत जल्दी-जल्दी आने लगेंगे और जब हम कहेंगे—'आप यहीं रहने लग जाइये', तब वे आकर जायँगे नहीं, हमारे साथ ही रहने लग जायँगे।

६—मनमें किसी प्रकारकी कोई भी उलझन आये तो हम उसे तुरंत भगवान्‌से कह दें और कहनेके बाद निश्चिन्त हो जायँ। वे प्रभु अपने-आप उत्तम-से-उत्तम रूपमें उसे सुलझा देंगे।

७—मनसे हम ऐसा मानें—प्रभु ही एकमात्र मेरे हैं, मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं। जैसे बच्चेका मातापर, पत्नीका पतिपर, मित्रका मित्रपर अधिकार होता है, वैसे ही मेरा प्रभुपर अधिकार है तथा प्रभुका मुझपर अधिकार है; क्योंकि मैं अब जगत्‌की वस्तु नहीं हूँ, एकमात्र प्रभुकी ही वस्तु हूँ।

अपने गौरवको पहचानिये और उसकी रक्षा कीजिये

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

आजके मनोवैज्ञानिकों तथा विज्ञानवेत्ताओंने जो सबसे बड़ी खोज की है, वह यह है कि इस हाड़-मांसके मनुष्य कहलानेवाले प्राणीकी मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ असीम, अनन्त और अलौकिक हैं। प्राचीन कालमें जैसी कल्पनाएँ की जाती थीं, आज आदमीने उनसे भी अधिक शक्ति और सामर्थ्य बढ़ा ली है। ऋषियोंने जिस ज्ञान-विज्ञानकी चर्चाएँ शास्त्रोंमें की हैं, आज उनके करिश्मे प्रत्यक्ष नजर आ रहे हैं।

मनुष्यका सम्मान इस बातमें नहीं है कि उसे विपुल धनका स्वामी, अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता, कलाकार, रूपवान्, बलशाली या नेता माना जाय। यह धन, रूप, बल आदि तो मानवके भौतिक शरीरकी पार्थिव आवश्यकताएँ हैं। ये वे भौतिक विशेषताएँ हैं, जो परिवर्तनशील तथा नितान्त अस्थायी रहती हैं।

आज यदि अच्छी और प्रशंसनीय स्थिति है तो कल परिस्थितियोंके हेर-फेरसे उसका बुरा और निन्दनीय बन जाना असम्भव नहीं है।

मनुष्यका सच्चा गौरव इस तथ्यमें है कि उसे मानवीय सद्गुणोंसे सम्पन्न, सभ्य और सुसंस्कृत कहा जाय। लोग उसे सज्जनका सम्बोधन दें। उसका प्रयत्न यह होना चाहिये कि वह मानवत्वसे नीचे न गिर जाय! इस धरतीपर जब-जब स्वर्गका सुख बिखरा है, तब-तब मानवताके सद्गुणोंका प्राधान्य रहा है। हम भगवान् न बन सकें, न सही। वह बहुत ऊँचा आदर्श है। देवता भी न बन पायें तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि पूरी तरह विकाररहित होना सम्भव नहीं है। पर यदि हम सच्चे अर्थोंमें मनुष्य ही बन जायँ, मानवोचित गौरव प्राप्त कर लें तो यही बहुत है।

मनुष्यकी महत्त्वाकाङ्क्षा यह होनी चाहिये कि उसके पास मानवीय सद्गुणोंका विपुल भंडार अधिकाधिक मात्रामें संगृहीत रहे। किसीकी प्रगति, किसीकी सम्पन्नता एवं बुद्धिमत्ताकी यही सर्वोत्तम कसौटी है कि वह पाशविक दोष-दुर्गुणोंको परास्त करता हुआ अपने मानवोचित दिव्य गुणोंको बढ़ावे और अपने सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक तथा धार्मिक जीवन-क्रमको अनुकरणीय बनावे। मानवीय पुरुषार्थोंमें सबसे बड़ा पुरुषार्थ आत्मनिर्माण ही है। आत्मपरिष्कारसे बढ़कर मनुष्य-जीवनकी सफलता और कुछ नहीं हो सकती।

आप परिस्थितियोंपर ही निर्भर न रहें

चतुर और दूरदर्शी व्यक्ति परिस्थितियोंसे विशेष लाभ उठाते हैं। यह ठीक है कि परिस्थितियाँ हमें अपनी रुचिके अनुसार जिधर चाहें, मोड़ लेती हैं; पर दृढ़ व्यक्तित्व उनका है, जो स्वयं परिस्थितियोंको अपने लाभ और विकासके लिये प्रयोगमें लाते हैं, अपने असाधारण व्यक्तित्वसे परिस्थितियोंसे फायदा उठाते हैं।

किंतु जो सर्वथा परिस्थितियोंपर ही निर्भर रहते हैं, वे किनारेपर उगे, पनपते, विकसित होते उस दयनीय वृक्षकी भाँति हैं, जो किनारेकी प्रतिकूलतासे किसी समय भी गिरकर नष्ट हो सकता है। उनमें अपना बल और महत्ता कुछ भी नहीं है।

जिन व्यक्तियोंको केवल परिस्थितियाँ ही विनिर्मित करती हैं, वे उन उपयोगी परिस्थितियोंके समाप्त होते ही नष्ट भी हो सकते हैं। आज जिन प्राकृतिक अथवा आकस्मिक परिस्थितियोंकी अनुकूलतासे आप समृद्धिशाली बने हैं, उनकी प्रतिकूलतासे न जाने कब, किस समय देर-सवेर आप क्षणभरमें दरिद्र भी बन सकते हैं।

सच मानिये, अपने प्रशस्त और समुन्नत बननेवाले जीवनको हवाके झोंकेमें क्षण-क्षण डगमगानेवाली नौका-

की तरह आधारहीन बनाकर संसार-सागरमें मारे-मारे फिरना, दूसरोंकी कृपापर टिके रहना कायरता और निर्बलता है। जो दूसरोंके कंधोंपर बैठकर चलेंगे, वे एक-न-एक दिन गोदसे उतार दिये जायँगे और उन्हें कठोर पथरीली भूमिपर चलना होगा।

आपका जीवन एक स्वतन्त्र, दृढ़तापूर्वक खुद अपना रास्ता बनाने और निरन्तर आगे बढ़नेवाले युद्ध-पोतकी भाँति सुदृढ़ और शक्तिसम्पन्न होना चाहिये।

जिस वीरने निजी आत्मबल और खुदकी शक्तियोंपर आत्म-निर्माण किया है, उसकी स्थिरता परिस्थितियोंकी अनुकूलता या प्रतिकूलताके अधीन नहीं रहती। वह स्वयं अपने अंदर उन्नतिका बीज रखता है। अपने गुप्त आत्मबलके सहारे वह आगे बढ़ता है। अनुकूल परिस्थितियोंमें तो एक साधारण आदमी भी बढ़ता जाता है, अपने स्वयंके बलपर आगे बढ़नेवाला प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी विकसित होता जाता है। विरोधी लोग उसका विकास अवरुद्ध नहीं कर पाते। अपने स्वयंके बौद्धिक, आर्थिक और नैतिक आधारपर टिके हुए व्यक्तिके लिये देश और कालसे उत्पन्न सारी परिस्थितियाँ सदा अनुकूल ही रहा करती हैं।

अपनी ऊँचा उठनेकी प्रेरणाकी उपेक्षा न करें

मनुष्य ऊँचा उठने और महान् बननेके लिये जन्मा है। ईश्वरका सशक्त पुत्र होनेके नाते, उसे सर्वशक्तिमान् परमात्माके समस्त गुण धरोहरके रूपमें मिले हैं। अनेक बार आपके मनमें ऊँचा उठने और बड़ा बननेकी महत्त्वाकाङ्क्षा जाग्रत् होती है। विवेक कहता है कि आप भी बड़े आदमी बनें, गौरवशाली पद प्राप्त करें। यह आत्मप्रेरणा उदीयमान व्यक्तिके अन्तःकरणसे हर क्षण उठती रहती है। यह उन्नतिका दिव्य संदेश हर श्वासके साथ प्रसरित होता रहता है।

खेद है कि आप अपने मनकी इस आवाजको सुनते नहीं, इसकी ओर ध्यान ही नहीं देते। यह क्षीण होकर मर जाती है। अपनी इस कमजोरीको दूर कीजिये और आत्मप्रेरणाको सुनिये, वह क्या संदेश दे रही है।

आपकी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा निरन्तर अपनी महानताकी, अपने दिव्य गुणोंको विकसित करने और हर प्रकारकी उन्नतिकी माँग करती है।

पर उसपरसे क्रोध, लोभ, मोह, चिन्ताका आवरण हटे, तब प्रेम, दया, सहानुभूति आयें। स्वार्थ दूर हो, तभी त्याग-भावना जाग्रत् हो। भोगोंसे चित्तवृत्तियाँ मुड़ें, तब वे स्थायी उन्नतिकी ओर चलें। तभी शक्ति-संचय हो।

अपनी कठिनाइयोंसे लड़े बिना साहस-जैसी वीरोचित विभूति कैसे मिलेगी? क्रोध बना रहेगा तो स्नेह, आत्मीयता, सौहार्द और सौजन्यका समावेश कैसे सम्भव है!

इसलिये उचित यही है कि अपनी आत्माकी पुकारको सुना जाय और विवेकसे काम लिया जाय। इन्हींके आधारपर भावी उन्नतिकी योजनाएँ बनायी जायँ।

आपके मनमें उन्नतिके जो विचार आते हैं, उनका दमन ठीक नहीं है। सद्बुद्धि आपको ऊँचा उठनेका संदेश देती रहती है। विवेक और बुद्धिरूप तत्त्वोंका सही उपयोग करते हुए हमें स्थायी उन्नतिकी दिशामें सोचना चाहिये। कोई आदमी कितना ही साधारण क्यों न हो, उसका विवेक कभी-न-कभी अवश्य जाग्रत् हो उठता है। यदि वह अपने प्रति ईमानदार है तो उसके ठीक ही दिशामें चलेंगे।

अनेक बार ऐसा होता है कि बात या अपने निर्णयको विवेकपूर्ण समझते हुए भी आदमी भय अथवा दबावके कारण अपने विचार सही-सही प्रकट नहीं कर पाता। यह कायरता ठीक नहीं। जो मनुष्य अपने विचारोंको ठीक समझता है और यह विश्वास रखता है कि वह समाज-हितको देखते हुए ठीक दिशामें सोचता है तो उसे अपने विचार अवश्य व्यक्त करने चाहिये।



पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्यारका मिठास

एक समय था, जब हकीम लुकमान किसी सौदागरके यहाँ नौकरी करते थे। अपने रहमदिल मालिकके प्रति उनके दिलमें बड़ा सम्मान था।

एक बार सौदागर बाजारसे एक तरबूज लाया। उसने पहली फाँक लुकमानको देकर पूछा—'चखकर बताओ, कैसा जायका है ?'

लुकमान फाँकको बड़ी सरलतासे खाकर बोले—'वाह, वाह, कितना मीठा, कितना स्वादिष्ट ! बस, मजा ही आ गया।'

सौदागरने फिर एक फाँक लुकमानको दी और कहा—'लो, इसे चखो; शायद और भी मजा आये।'

दूसरी फाँक भी भावसे खाकर वे बोले—'अहा, कितना जायकेदार है ! इसके सामने तो खजूर भी कुछ नहीं। बस, जीभ लपलपाती रह जाती है।'

सौदागर फाँक काटकर उन्हें देता रहा और वे उसकी तारीफके पुल बाँधते हुए खाते रहे। अन्तिम फाँक जब स्वयं सौदागरने चखी तो मुँह बनाकर उसे थूक दिया और लुकमानसे बोला—'छिः ! यह कोई तरबूज है ! चिरायते-सा कड़वा। तुमने व्यर्थ ही इसकी तारीफके पुल बाँधकर अपने मुँहका जायका खराब किया !'

लुकमानने उत्तर दिया—'मेरे मालिक ! जिन प्यारके हाथोंसे मैं आजतक सैकड़ों मीठी चीजें खा चुका हूँ, उन हाथोंसे मिला यह कड़वा तरबूज भी मेरे लिये मीठा हो गया। फिर, भला, मैं उसकी तारीफ क्यों न करता ?'

(२)

स्नेहका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये

श्रीभाईजीकी आत्मीयता प्रसिद्ध है। जो भी, किसी भी हेतुसे, उनके सम्पर्कमें आया, वह सदाके लिये उनका हो गया तथा समय और स्थानकी दूरीसे फिर उस आत्मीयतामें कभी कोई व्यवधान नहीं आया। सच्ची आत्मीयता आत्मीयताको सृष्ट करती है। यही हेतु है कि सभी लोगोंसे श्रीभाईजीको सच्चा स्नेह प्राप्त हुआ। गोरखपुर श्रीभाईजी-का क्रिया-क्षेत्र रहा है। अतएव यहाँके नागरिकोंके लिये श्रीभाईजी परिवारके एक गुरुजनके रूपमें समादृत रहे हैं।

श्रीभाईजीका जीवन आरम्भसे ही बड़ा क्रियाशील था। दिन-रातमें वे अधिक-से-अधिक चार-साढ़े-चार घंटे विश्राम करते थे। इस व्यस्तताका प्रभाव शरीरपर होना स्वाभाविक था। शरीर प्रायः अस्वस्थ रहने लगा, पर अस्वस्थताकी बिना कुछ परवा किये श्रीभाईजी कार्यमें जुटे रहते थे। हाँ, शरीर-धर्मके नाते शुद्ध औषध वे लेते थे। गोरखपुरके सभी डाक्टर एवं वैद्योंसे श्रीभाईजीकी बड़ी ही घनिष्ठता थी और तनिक-सा संकेत पाते ही सभी डाक्टर-वैद्य उन्हें देखनेके लिये उपस्थित हो जाते थे। इसमें वे अपना अहोभाग्य मानते थे कि श्रीभाईजी-जैसे प्राणीमात्रके सच्चे हितैषीकी सेवाके लिये उनके औषध-ज्ञानका यत्किंचित् उपयोग हुआ। पर श्रीभाईजीका स्वभाव था—नियम-सा था कि जिनका जो व्यवसाय (profession) है, उनकी उस सेवाको मुफ्त नहीं लेना है। स्नेह स्नेहके स्थानपर है, पर जिनके लिये चिकित्सकका पेशा आजीविकाका साधन है, उन्हें उसके लिये उचित पारिश्रमिक देकर ही सेवा लेनी चाहिये। अपने इस नियमके अनुसार अपने यहाँ आनेवाले सम्मान्य डाक्टर महानुभावोंसे श्रीभाईजीने यह समझौता कर लिया था कि वे उन्हें जो दें, वह उन्हें लेना होगा। जो-जो डाक्टर महानुभाव श्रीभाईजीके इस आग्रहको माननेमें अपनेको असमर्थ पाते थे, श्रीभाईजी आवश्यक होनेपर भी अपने उपचारके लिये उन्हें बुलानेमें संकोच करते थे। वैसे प्रेमके नाते श्रीभाईजीके दर्शनार्थ वे लोग आते ही रहते थे।

सन् १९५१ की बात है। श्रीभाईजीके हृदयमें थोड़ी पीड़ा रहने लगी। कई महीने कष्ट रहा। स्थानीय सरकारी अस्पतालके सिविल सर्जन कैप्टेन राजेन्द्रप्रसादजी बड़े ही अनुभवी तथा निपुण डाक्टर थे। अनेकों सांघातिक अवस्थाओंमें उनके उपचारसे लोगोंको प्राण-दान मिला था। परिवारवाले तथा मित्रोंने श्रीभाईजीके सामने कई बार आग्रहपूर्ण प्रस्ताव रखा कि कैप्टेन राजेन्द्रप्रसादजीको भी देखनेके लिये बुलाया जाय; पर श्रीभाईजीको ज्ञात था कि कैप्टेन राजेन्द्रप्रसादजी उनके यहाँसे फीस

स्वीकार नहीं करते। अतएव श्रीभाईजीने सभी लोगोंके आग्रहको सुनकर भी कैप्टेन राजेन्द्रप्रसादजीको बुलाना स्वीकार नहीं किया। श्रीभाईजीकी अस्वस्थताकी बात छिपनेवाली चीज नहीं थी। कुछ दिनोंमें कैप्टेन राजेन्द्र-प्रसादजीको भी पता चल गया कि श्रीभाईजी बीमार हैं। वे बिना बुलाये ही श्रीभाईजीके निवास-स्थानपर पहुँच गये और बड़े ही स्नेहसे उपालम्भ देते हुए श्रीभाईजीके कमरेमें घुसे—'भाईजी! आपने मुझे अपनी बीमारीकी सूचनातक नहीं दी, क्या आपने डाक्टर राजेन्द्रप्रसादको मरा हुआ मान लिया था?' डाक्टर साहेबके इन आत्मीयताभरे शब्दोंको सुनते ही श्रीभाईजीका हृदय भर आया और वे बहुत ही संकोचभरे शब्दोंमें बोले—'डाक्टर साहेब! यह मेरी भूल है, पर क्या करूँ, यह मेरे स्वभावका दोष है। स्वजन लोग मुझे बहुत समझाते हैं, किंतु मैं अपने स्वभावदोषको नहीं सुधार पाता। इसीसे आपको सूचना नहीं दी।'

ऐसी लाचारीके प्रसङ्गपर भी अपने संकोची स्वभावका निर्वाह करनेकी श्रीभाईजीकी दृढ़ताको देखकर डाक्टर साहेब गद्गद हो गये। उन्होंने बड़े ही स्नेहसे बहुत देरतक श्रीभाईजीका निरीक्षण किया एवं उपचारके सम्बन्धमें कई प्रकारके सुझाव दिये।

डाक्टर साहेबके लौट जानेपर श्रीभाईजीने अपने सेवकसे कहा—'डाक्टर साहेबके स्नेहको देखकर मेरा हृदय भर आया। ऐसे सच्चे स्नेही कहाँ मिलते हैं। पर किसीके स्नेहका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। अपने व्यक्तिगत स्वार्थके लिये स्वजनको कष्ट देना ही क्या स्नेह है? स्नेही देनेका आग्रह करता रहे और अपने मनमें उससे लेनेका संकल्प ही उदय न हो, तब शोभा है। किसी दूसरेके लिये डाक्टर साहेबकी सेवाकी आवश्यकता होती तो उन्हें बुलानेमें मुझे प्रसन्नता होती, पर अपने लिये बुलाना स्नेहका दुरुपयोग है।'

सेवक सच्चे स्नेहका आदर्शरूप देखकर मुग्ध हो गया।

(३)

आजसे मुझे ही अपना पुत्र स्वीकार कर लीजिये

छत्रसाल अपनी प्रजाकी देखभाल बच्चोंकी तरह करते थे। वे समय-समयपर अपने राज्यका दौरा करते और व्यक्ति-गत सम्पर्कद्वारा लोगोंसे उनकी कठिनाइयाँ पूछते रहते थे। एक बार उनके स्वस्थ और सुन्दर शरीरको देखकर एक युवती उनकी ओर आकर्षित हो गयी। कामनाकी प्रबलताके सम्मुख भय और लज्जा कैसी!

वह युवती महाराजके पास आयी और मौका देखकर बोली—'राजन्! आप-जैसे दयालु राजाके राज्यमें भी मैं दुःखी रहती हूँ।'

राजा बड़े दुःखी हुए। वे सोचने लगे कि 'मेरे निरन्तर प्रयत्नशील रहनेपर भी राज्यके स्त्री-पुरुष दुःखी रहें, अभाव-ग्रस्त रहें, फिर मेरे राज्य करनेसे भी क्या लाभ है?'

वे बोले—'देवी! बताइये, आपको क्या कष्ट है? मैं उसे दूर करनेके लिये भरसक प्रयत्न करूँगा।'

'राजन्! ऐसी मीठी-मीठी आश्वासनभरी बातें कह तो सब देते हैं, पर करते विरले ही हैं। आप वचन दें, तब तो मेरा बताना भी सार्थक है।'

उस महिलाने अपना पाँसा फेंका। महाराज ठहरे सरल-हृदय और प्रजावत्सल! उन्होंने कहा—'देवी! आपका दुःख दूर करनेके लिये मैं यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा।'

'बात बड़ी छोटी-सी है। मैं चाहती हूँ कि आप-जैसी संतान मेरे भी हो।' युवतीने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया।

युवतीकी बात सुनकर कुछ क्षणके लिये महाराज छत्रसाल स्तब्ध रह गये, पर उन्होंने बड़े ही विवेक तथा संयमसे कार्य किया। वे उस युवतीके चरणोंमें मस्तक नवाकर बोले—'माताजी! सम्भव है; आप जिस पुत्रको जन्म दें, वह मेरी तरह न हो। अतः आजसे आप मुझे ही अपना पुत्र स्वीकार कर लीजिये।'

महाराजकी यह बात सुनते ही उस युवतीका स्वप्न टूट गया और उसे अपनी त्रुटिका बोध हो गया। युवतीके नेत्र बरस पड़े—वह बार-बार क्षमा-याचना करने लगी। महाराजने उससे निर्भय एवं निश्चिन्त रहनेकी प्रार्थना की। इतना ही नहीं, छत्रसाल जीवनभर उस युवतीके प्रति श्रद्धा रखते रहे और राजमाताकी भाँति उसे सम्मान प्रदान करते रहे।

'अखण्ड ज्योति'

(४)

अनपढ़का उदार दिल

एक बार मैं राजकोट होकर अपने गाँव जानेके लिये

बस-स्टैंडपर आया। वहाँ बस तैयार थी, किंतु भीड़ बहुत अधिक थी। मेरे पास रेजगारी भी नहीं थी।

मैंने कंडक्टरसे कहा—'मुझे गाँव जाकर स्कूलमें जाना है, सब लोगोंके साथ मैं भी खड़ा रह जाऊँगा।' किंतु कंडक्टर माना नहीं। खड़े हुए लोगोंमें देहातकी एक वृद्धा भी थी। उसने कंडक्टरसे कहा—'साहब! इस लड़केको ले लीजिये; उसे स्कूल जानेमें देर हो जायगी। मैं थोड़ी सिकुड़कर खड़ी रह जाऊँगी तो जगह हो जायगी।'

वृद्धाके शब्दोंका कंडक्टरपर प्रभाव पड़ा और उसने मुझसे कहा—'आ जाओ।' मैं बसमें सवार हो गया और टिकट लेनेके लिये मैंने रुपयेका नोट निकाला। कंडक्टर बोला—'बीस पैसे दे दो, मेरे पास रेजगारी नहीं है।' मैंने कहा—'बीस पैसे तो मेरे पास भी नहीं हैं।'

'तो उतर पड़ो नीचे'—कंडक्टरने आज्ञाके स्वरसे कहा। मैं नीचे उतरनेकी तैयारी कर रहा था कि वृद्धा बोल उठी—'मत उतरो' बेटा! दूसरी बससे जाओगे तो स्कूल जानेमें देर हो जायगी' और उसने कंडक्टरको कहा—'मेरे जो बीस पैसे बाकी हैं, उन्हींके बदले टिकट दे दो इस लड़केको।'

मैं आश्चर्यमें पड़ गया। बस चलने लगी। आगेके स्टैंडपर हमलोगोंको बैठनेकी जगह मिल गयी। मैंने एक रुपयेका नोट वृद्धाको देते हुए कहा—'ले लीजिये आपके बीस पैसे, माँ; बाकीके पैसे मुझे नहीं चाहिये।'

'बिना हकके पैसे मैं कैसे ले सकती हूँ।'—वृद्धाने कहा।

'तो बिना हकके आपके बीस पैसे मैं कैसे ········।'

''तू तो बच्चा है, विद्यार्थी है। फिर तुमने तो मुझे 'माँ' कहकर पुकारा है, तेरा तो हक है।'—मेरी बातको काटकर वृद्धा बोली। थोड़ी देर पश्चात् वृद्धाने कहा—''अनजान सहयात्रीके लिये एक-दो रुपये, जानकारके लिये पाँच रुपये और सगे-सम्बन्धीके लिये सौ रुपये देने पड़ें तो वह कोई बड़ी बात नहीं है।'

वृद्धाका गाँव आ गया। बस रुकी। वृद्धाका थैला उठाकर मैंने उसे नीचे उतरनेमें सहायता दी तथा नीचे उतरकर उसके चरण छूकर प्रणाम किया। वृद्धा बोली—'बेटा! मेरे लिये तुमने बहुत कष्ट उठाया; अब जाओ, बस चली जायगी।'

बसमें बैठते हुए मैं विचार करने लगा—'वृद्धा कितनी अच्छी थी; भले ही वह पढ़ी-लिखी नहीं थी। व्यवहार-ज्ञान पढ़नेसे थोड़े आता है? अनपढ़का दिल भी उदार होता है।'

'अखण्ड आनन्द' —जैसंग कुमार धरजिया

(५)

तबतक मैं प्रभुकी सेवा करूँगा

जिस दिन डाक्टरोंने यह कहा—'यह लड़का अधिक दिन जीवित नहीं रहेगा, उसी दिन ऐडीने वस्तुतः अपना सच्चा जीवन प्रारम्भ किया। उसने अपनी मृत्युका निर्णय शान्तिसे सुन लिया। अपने गरीब परिवारकी आय बढ़ानेके लिये वह घर बैठे छोटी-छोटी वस्तुएँ बनाने लगा। उस समय उसकी अवस्था केवल तेरह वर्ष थी।

एक दिन ऐडी अपनी पहियेवाली कुर्सी छोड़कर लकड़ीके सहारे बाहर निकल पड़ा; क्योंकि वह अपंग था, साथ ही हृदयरोगी। डाक्टरोंने कहा—'तू बिस्तरमें नहीं पड़ा रहेगा तो बहुत जल्दी मर जायगा।' लेकिन वह घरसे बाहर जाकर घासपर बैठ गया। उसका पिता उसे ढूँढ़ता हुआ वहाँ आया। ऐडीने पितासे कहा—'मैं मरनेवाला ही हूँ तो मुझे बिस्तरपर नहीं, यहीं मरने दीजिये।'

पिताने कहा—'बेटा! मरना-जीना तो भगवान्के हाथमें है।'

ऐडी—'ऐसा! तब तो मैं भी दूसरे लोगोंकी भाँति रहूँगा। भगवान्को जब उठाना होगा, उठा लेंगे। तबतक मैं उन प्रभुकी सेवा करूँगा, अपने-जैसे दूसरे अपंग लोगोंकी सहायता करूँगा।'

औद्योगिक शिक्षणालयमें जाकर ऐडीने फर्नीचर बनाना सीखा और अपना उद्योग स्थापित किया। उसने अपने यहाँ केवल अपंग नौकर रखे। पचास व्यक्ति उसके यहाँ काम करते थे। जिनके हाथ अशक्त थे, उनके लिये उसने पैरसे चलनेकी मशीनें बनायीं।

प्रतिज्ञा करो कि 'अपने यहाँ केवल अपंग व्यक्तिको कामपर रखोगे'—कोई अपंग काम सीखने आता तो उससे ऐडी यह प्रतिज्ञा कराता था और जब वह काम सीख लेता, तब स्वतन्त्र उद्योग-स्थापनके लिये उसे मुक्त कर देता था। इस प्रकार अमेरिकामें ऐडीके कारण अनेक अपंगोंके

उद्योग स्थापित हुए और उनमें सैकड़ों अपंग काम करके स्वावलम्बनका जीवन बिताने लगे।

छः वर्ष यह क्रम चलता रहा। ऐडीने डाक्टरोंसे कुछ पूछा ही नहीं। पादरी कहते थे—'ऐडीने वेदना और मृत्युको जीत लिया है।'

ऐडीने विवाह किया। पत्नीके बच्चा होनेका समय आया। अपनी मोटरमें बैठकर ऐडी डाक्टरको बुलाने चला। मार्गमें उसे बेचैनी अनुभव हुई। उसने मोटर सड़कके किनारे कर ली, चाबी बंद कर दी तथा घुमानेवाले पहिये (steering)पर उसने अपना सिर रख दिया। इसी दशामें लोगोंको ऐडीका मृत शरीर मिला।

(६)

प्रार्थना आज भी सुनी जाती है

गत वर्ष २४ दिसम्बरकी रात्रिको मेरा छोटा बच्चा श्रीपंकजकुमार श्रीवास्तव, जिसकी आयु ६ माह है, भीषण रूपसे बीमार हो गया। स्थानीय ख्यातिप्राप्त डाक्टर श्रीविश्वासने भलीभाँति जाँच करनेके पश्चात् घोषित किया—"उक्त बच्चेको 'डिप्थीरिया' हो गया है और दशा चिन्ताजनक है।" उक्त बीमारीका नाम सुनते ही मैं एक चिकित्सक होनेके नाते चौकन्ना हो गया और परिवारके सभी लोग रोने लगे। भाग्यवश खूब खोजनेपर 'डिप्थीरिया' की एक सूई बयालीस रुपयेमें किसी प्रकार उपलब्ध हो सकी। सूईके लगानेके बाद भी कोई आशाजनक लाभ प्रतीत होता हुआ न देखकर विवश होकर मुझे बच्चेको स्थानीय आई० डी० अस्पतालमें भर्ती कराना पड़ा। जाड़ेका दिन, दस बजे रात मैं, मेरी माँ, धर्मपत्नी और सम्बन्धीजन अस्पतालमें बच्चेको घेरे हुए मेडिकल ऑफिसरकी प्रतीक्षा कर रहे थे। सूचना पाते ही मेडिकल ऑफिसर—श्रीपाण्डेजी बच्चेको देखने आ गये। उन्होंने अपने सहयोगी कम्पाउंडरके साथ बच्चेका गला खोलकर देखा। देखते ही कहने लगे—'बच्चेकी दशा बहुत चिन्ताजनक है, बड़ी देर कर दी आपने। चार दिन बीतनेपर आप आये हैं।' उन्होंने डिप्थीरियाकी सूई पुनः लगायी और इस प्रकार दो घंटेके भीतर बच्चेको कुल ग्यारह सूइयाँ लगा दी गयीं। सूइयोंके लगानेके बाद डाक्टर साहबने कहा—'सांघातिक स्थिति है। रात बीत जाय तो जानें।'—यह कहकर वे अपने क्वार्टर सोने चले गये। मुझे 'कल्याण'में पढ़े 'रामरक्षामन्त्र'के पाठकी महिमाका ध्यान आया। मैंने अपने इष्टदेवका स्मरण किया और निम्नलिखित रामरक्षामन्त्रका जप करने लगा—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने॥

एक ओर मैं रामरक्षामन्त्रके जपमें जुटा था, दूसरी ओर मेरी स्त्री, 'माँ दुर्गा' का जप कर रही थीं और मेरी माँ गुरुदेव भगवान्‌को रह-रहकर पुकारने लगी। कष्टकी रात सदैव दुःखदायी होती है; परंतु वह रात ऐसी बीती, जैसे रात थी ही नहीं। पूरी रात जप करते गुजर गयी। जपके दौरान सहसा मेरे मुखसे निकला—'कष्टकी घड़ी एक बजे राततक है।' फिर जप स्वतः होने लगा। अज्ञात शक्तिद्वारा शक्ति प्रदत्त हुई।

रात बीती। दूसरे दिन प्रातः नौ बजे मेडिकल ऑफिसर-इन्चार्जका पुनः आगमन हुआ। बच्चेको देखते ही डाक्टर साहबने कहा—'चमत्कार हो गया। ऐसा केस आजतक बचते हमने कभी नहीं देखा। आपका बच्चा अब बच गया।'

डाक्टरके उक्त शब्दोंने हम सबके हृदयोंको प्रसन्नतासे भर दिया और उस दयामयी माँकी कृपाका प्रत्यक्ष दर्शन कर सबका हृदय भर आया।

—डा० विजयस्वरूप श्रीवास्तव, मिर्जापुर

(७)

मृत्युपर्यन्त ईमानदारी

बंगालके सुप्रसिद्ध न्यायाधीश श्रीनीलम वन्द्योपाध्यायने पाँच हजार रुपयेका बीमा कराया। वृद्धावस्थामें वे मधुमेहके रोगी हो गये। किसी कारणवश वे बीमा कंपनीको सूचित न कर सके। उनका स्वास्थ्य बिगड़ता गया और उन्हें स्वयं ऐसा लगने लगा कि मैं अब जीवित न बच सकूँगा। एक तो वृद्धावस्था, उसपर लंबी बीमारी। एक दिन शामको उनके एक मित्र उनके स्वास्थ्यके सम्बन्धमें पूछने आये। श्रीवन्द्योपाध्यायजीने अपने मित्रको पास बिठलाया और कहा—'मित्रवर! आप जानते ही हैं कि मैं शासकीय सेवामें रहकर अपना कार्य पूरी ईमानदारीसे करता रहा हूँ। पर मरते समय एक ऐसा कार्य है, जो भीतर-ही-भीतर आत्माको कचोट रहा है। मैंने

पाँच हजारकी बीमा करवा रखी है। केवल पाँच हजार रुपयेके पीछे मैं ईमानदारीकी राहसे भटक जाऊँ, इसे मेरी आत्मा स्वीकार करनेको तैयार नहीं है। अतः आप बीमा-कंपनीके प्रतिनिधिको बुलाकर मेरा बीमा रद्द करा दीजिये और उससे कह दीजियेगा कि मेरी मृत्युके बाद इस बीमाकी धन-राशि मेरे किसी उत्तराधिकारीको न दी जाय।'

मित्र श्रीवन्द्योपाध्यायकी ईमानदारीसे परिचित थे। उनके हृदयकी सच्ची अभिलाषा जानकर मित्रने श्रीवन्द्योपाध्याय-की इच्छानुसार सारी व्यवस्था करा दी। श्रीवन्द्योपाध्यायजीको बड़ी ही आन्तरिक प्रसन्नता हुई और वे शान्तिपूर्वक इस संसारसे विदा हुए तथा जाते-जाते धनके पीछे दीवाने रहने-वाले व्यक्तियोंको एक संदेश दे गये। 'युग-निर्माण-योजना'

(८)

समयकी सूझ-बूझ

कुछ वर्ष पूर्वकी बात है। उस वर्ष भीषण अकाल था। वर्षा न होनेके कारण अन्नका भीषण अभाव हो रहा था। उष्णकाल आते ही देहातोंमें चोरी और लूटपाटके उपद्रव होने लगे। आस-पासके भूखे लोग जो भी हाथमें आता, उठा ले जाते थे। अगर कोई उनका प्रतीकार करता तो मार-पीट हो जाती। देहातोंके सभी लोग भयत्रस्त हो गये।

एक छोटे-से गाँवमें एक वृद्ध व्यापारी रहता था। व्यापारसे उसने अच्छा पैसा इकट्ठा कर लिया था। दुष्कालमें उपभोगमें लानेके लिये उसने अन्नका भी संग्रह कर रखा था। गाँवके लोगोंमें उसका मान था।

व्यापारी बहुत बुद्धिमान् था। उसने चारों ओरकी परिस्थितिको देखकर समझ लिया कि इस भुखमरीमें इज्जत बचाना आसान नहीं। अतः उसने अपने परिवारके लोगोंसे परामर्श किया। उसने परिवारके सदस्योंसे स्पष्ट कह दिया—'इस कराल कालमें अगर हमलोग अपनी सम्पत्ति सँभालकर बैठे रहेंगे तो सब कुछ गँवानेकी नौबत आ जायगी; जीवन-हानिका भी खतरा हो सकता है।'

'तो इसका उपाय क्या है?'—कुटुम्बके एक सदस्यने प्रश्न किया।

'एक ही रास्ता है',—व्यापारी बोला। 'गाँवके सभी लोगोंको एक साथ ही जीना है। अगर हम अन्य लोगोंको जिंदा रखेंगे तो हम भी जिंदा रहेंगे।' परिवारके सभी लोगोंको यह निश्चय समीचीन लगा।

उसी शामको व्यापारीने ग्रामवासियोंको एकत्रित किया और कहा—'प्रत्येक गाँवमें भुखमरी, चोरी और लूटपाट हो रही है। हमारा गाँव भी इन अनर्थोंसे बच नहीं सकता। अभी हमें चार मास निकालने हैं। अगर आगामी वर्षमें अच्छी वर्षा हुई तो सब बच जायँगे। इन चार महीनोंके लिये यदि आपलोग सहमत हो सकें तो एक उपाय बतलाऊँ।'

'सेठ साहेब!'—लोगोंने कहा—'आप जो कुछ भी कहेंगे, हमें मंजूर होगा। हमलोग अकालसे तंग आ गये हैं, आप तो हमारे माता-पिता हैं।'

'तो सुनो',—व्यापारी बोला—'मेरे पास एक हजार मन अनाज भरा हुआ है। परिवारके निर्वाहके लिये मुझे केवल साठ मन अनाज चाहिये। भगवान्‌की कृपासे अगले वर्ष वर्षा होगी तो सारे गाँवके किसानोंकी बुवाईके लिये दो सौ मन बीजके रूपमें अलग रखकर बचे हुए अनाजको आप सब आपसमें बाँट लीजिये। चार महीने सब जी जायँगे।'

व्यापारीका यह प्रस्ताव गाँवके लोगोंने बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लिया और गाँवमें शान्तिकी स्थापना हो गयी। सबको अनाज खानेको मिल गया। अब बाहरके भयका सामना भी सामूहिक रूपसे होने लगा। दुःखके चार मास आनन्दसे कट गये।

अखण्ड आनन्द —दीनानाथ सो. व्यास

महानताकी कसौटी

फ्रांसने हालैंडपर आक्रमण किया था; किंतु दमतोड़ प्रयत्नोंके बावजूद भी युद्धमें विजय प्राप्त न हो सकी। एक दिन फ्रांस-सम्राट् लुई चौदहवेंने मन्त्री कॉलबर्टसे कहा—'हम इतने सम्पन्न एवं महान् देशके निवासी एक छोटे-से देशको भी नहीं हरा सके?'

कॉलबर्टने नम्रतासे जवाब दिया—'महाराज! किसी देशकी महानता उसकी लंबाई-चौड़ाई और धन-सम्पदापर आधारित नहीं होती, वह तो वहाँके नागरिकोंके चरित्रपर निर्भर करती है। चरित्र ही मनुष्यकी महानताकी कसौटी है।'

Our English Publications

Scriptures (Rendered into English by Sri C. L. Goswami and his associates)

1. **Śrīmad Vālmīki-Rāmāyaṇa** (with Sanskrit Text and English translation) Part I (Bālakāṇḍa and Ayodhyākāṇḍa), Size D'crown octavo, Pictures—Tricolour 12, Black and White 1, Pages 652, Price Rs. 12.00, Postage Rs. 2.40.
2. **Śrīmad Vālmīki-Rāmāyaṇa** (with Sanskrit Text and English translation) Part II (Araṇyakāṇḍa, Kiṣkindhākāṇḍa and Sundarakāṇḍa), Size D'crown octavo, Multi-coloured Pictures 19, Pages 718, Price Rs. 12.00, Postage Rs. 2.40.
3. **Śrīmad Bhāgavata-Mahāpurāṇa** (with Sanskrit Text and English translation) Part I, Size D'crown octavo, Multi-coloured Pictures 2, Pages 934, Price Rs. 10.00, Postage Rs. 2.65.
4. **Śrīmad Bhāgavata-Mahāpurāṇa** (with Sanskrit Text and English translation) Part II, Size D'crown octavo, Multi-coloured Pictures 2, Pages 782, Price Rs. 10.00, Postage Rs. 2.65.
5. **Śrī Rāmacharitamānasa** (with Hindi Text and English translation), Size D'crown octavo, Multi-coloured Pictures 8, Pages 872, Price Rs. 10.00, Postage Rs. 2.50.
6. **Śrīmad Bhagavadgītā** (with Sanskrit Text and English Translation of Hindi Commentary by Sri Jayadayal Goyandka), Size D'crown octavo, Pages 833, Multi-coloured Pictures 4, Price Rs. 8.00, Postage Rs. 2.50.
7. **Bhagavadgītā** (with Sanskrit Text and English translation of Hindi version by Sri Jayadayal Goyandka), Price unbound .35, Bound .50 Paise, Postage .20 Paise.

By Sri Jayadayal Goyandka (Rendered into English by C. L. Goswami and his associates)

8. **Gems of Truth** (Ist series), Pages 345, Price .75 paise, Postage Rs. 1.35.
9. „ „ (2nd series), Pages 216, Price .75 paise, Postage Rs. 1.35.
10. **What is God ?**, Pages 32, Price .12 paise, Postage .10 paise.
11. **What is Dharma ?**, Pages 24, Price .05 paise, Postage .10 paise.

By Sri Hanumanprasad Poddar (Rendered into English by Sri C. L. Goswami and his associates)

12. **The Philosophy of Love,** Pages 256, Price Rs. 1.25, Postage Rs. 1.30.
13. **Fountain of Bliss,** Pages 200, Price Rs. 2.50, Postage Rs. 1.40.
14. **Path to Divinity,** Pages 200, Price Rs. 2.50, Postage Rs. 1.40.
15. **Turn to God,** Pages 203, Price Rs. 2.50, Postage Rs. 1.45.
16. **Look beyond the Veil,** Pages 208, Price Rs. 2.50, Postage Rs. 1.40.
17. **Nectarean Bliss of Śrī Rādhā-Mādhava,** Pages 48, Price .55 paise, Postage Rs. 1.10.
18. **Gopis' Love for Sri Krishna,** Pages 96, Price .35 paise, Postage .15 paise.
19. **Way to God-Realization,** - Pages 116, Price .35 paise, Postage .15 paise.
20. **The Divine Name and Its Practice,** Pages 20, Price .25 paise, Postage .15 paise.
21. **Transcendent Bliss and Love,** Pages 36, Price .20 paise, Postage .10 paise.
22. **Wavelets of Bliss,** Pages 38, Price .15 paise, Postage .10 paise.
23. **The Divine Message,** Pages 38, Price .07paise, Postage .10 paise.

By Pt Madan Mohan Malaviya

24. **The Immanence of God,** Pages 38, Price .15 paise, Postage .10 paise.

By Sri Jaidayal Dalmia and his associates

25. **A Review of Beef in Ancient India,** Pages 232, Price Rs. 2.00, Postage Rs. 1.45.

The Manager, Gita Press, P. O. Gita Press (Gorakhpur)

रजि० सं० एल्० १७५

इस हात दे, उस हात ले

दुनिया अजब बाज़ार है, कुछ जिन्स याँ की सात ले।
नेकी का बदला नेक है, बद से बदी की बात ले॥
मेवा खिला, मेवा मिले; फल-फूल दे, फल-पात ले।
आराम दे, आराम ले, दुख दर्द दे, आफ़ात ले॥
कलजुग नहीं कर जुग है ये, याँ दिन को दे औ रात ले।
क्या खूब सौदा नक़्द है, इस हात दे, उस हात ले।

काँटा किसीके मत लगा, गो मिस्ले गुल फूला है तू।
वो तेरे हक़ में तीर है, किस बात पै फूला है तू॥
मत आग में डाल और को, फिर घास का पूला है तू।
सुन रख ये नुक़्ता बेख़बर, किस बात पर फूला है तू॥
कलजुग नहीं कर जुग है ये, याँ दिन को दे औ रात ले।
क्या खूब सौदा नक़्द है, इस हात दे, उस हात ले॥

जो और की बस्ती रखे, उसका भी बस्ता है पुरा।
जो और के मारे छुरी, उसके भी लगता है छुरा॥
जो और की तोड़े घुरी, उसका भी टूटे है धुरा।
जो और की चेते बदी, उसका भी होता है बुरा॥
कलजुग नहीं कर जुग है ये, याँ दिन को दे औ रात ले।
क्या खूब सौदा नक़्द है, इस हात दे, उस हात ले॥

अपने नफ़े के वास्ते, मत और का नुक़सान कर।
तेरा भी नुक़साँ होयगा, इस बात ऊपर ध्यान कर॥
खाना जो तू खा, देखकर; पानी पिये तू छानकर।
याँ पाँव को रख, फूँककर; और ख़ौफ़ से गुज़रान कर॥
कलजुग नहीं कर जुग है ये, याँ दिन को दे औ रात ले।
क्या खूब सौदा नक़्द है, इस हात दे, उस हात ले॥

—नजीर